'सन्मति' साहित्य-रत्न माला रत्न १

सत्य हरिश्चन्द्र

रचयिता—

उपाध्याय मुनि श्री अमरचन्द्र जी कविरत्न

'सन्मति' ज्ञान-पीठ

आगरा

उत्सर्ग

मुनि श्री प्रेमचन्द्र जी

मुनि श्री अमोलकचन्द्र जी

मुनि श्री श्रीचन्द्र जी
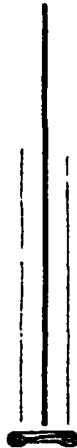
मुनित्रयी की भक्ति-भावनामय सेवाओं को अर्पण—
करता हूँ, श्री हरिश्चन्द्र की जीवन-गाथा के मधुकण !

अमर मुनि

स्मृति-चिह्न

श्री..

....

के कर कमलों में

आत्म-निवेदन

हरिश्चन्द्र का जीवन मानव-हित आदर्श रहेगा,
युग-युग तक उससे आलोकित भारतवर्ष रहेगा।

पत्नी बेची, बिका स्वयं भी सत्यधर्म के कारण,
धन्य-धन्य स्वीकार किया, हाँ असिधारा व्रत धारण।

सत्यभक्ति-वश हरिश्चन्द्र का जीवन मैंने गाया,
टूटे फूटे शब्द-पात्र में सुधा-सार छलकाया।

कविता-कला कहाँ? यह है भावुक उर की तुकबंदी,
जब तब इस से हुआ शान्ति में चित्त जरा आनंदी।

अस्तु, शब्द पर बल न दीजिए भावों पर रहिएगा,
हरिश्चन्द्र की निर्मल जीवन-गंगा में बहिएगा।

सज्जन सार ग्रहण कर लेते शब्दों पर न झगड़ते,
राजहंस पानी को तज कर दुग्ध ग्रहण बस करते।

कि बहुना, नित पठन श्रवण कर जीवन सफल बनाएँ,
कवि 'अमर' की है यही कामना, सत्य-मार्ग अपनाएँ।

— मुनि 'अमर'

सन्मति सदन
लोहामंडी, आगरा
ता. २२. ९. ४८

'सन्मति' ज्ञान-पीठ

यह संस्था अभी-अभी यहाँ बड़े समारोह से स्थापित हुई है। आशा है, श्रद्धेय कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज की अमर प्रेरणा का यह सत्फल, निकट भविष्य में ही जैनसमाज की सुन्दर सेवा करता हुआ नजर आयगा।

आगमों का प्रामाणिक संपादन तथा प्रकाशन, प्राचीन ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन चरित्र, जैन धर्म के विविध अंगों पर अद्यतन शैली से सुन्दर निबंध आदि की योजनाएँ, संस्था के सम्मुख हैं। ज्यों-ज्यों समाज के धनी-मानी तथा विद्वानों का सहयोग मिलता जायगा, प्रत्येक कार्य प्रगति के साथ पूर्ण होता जायगा।

ज्ञान-पीठ को सहायता देने के लिए आप नीचे लिखे किसी भी रूप में सहयोगी बन सकते हैं और जैन समाज का ऋण अदा करने के साथ-साथ अपना शुभ नाम भी जैन समाज के चरणों में आदर पूर्वक रख सकते हैं।

१ —	एक मुश्त	५०००)	देकर	प्रधान स्तंभ	बन	सकते हैं।
२ —	"	१०००)	"	स्तंभ	"	"
३ —	"	५००)	"	संरक्षक	"	"
४ —	"	२५०)	"	सहायक	"	"
५ —	"	१२५)	"	समर्थक	"	"

उपर्युक्त सभी प्रकार के सहयोगी 'ज्ञान-पीठ' के सदस्य समझे जायँगे और उनको सब-के-सब प्रकाशन निःशुल्क भेंट में दिये जायँगे।

(सेठ) रतनलाल जैन मीतल
प्रधान-मंत्री —
'सन्मति' ज्ञान-पीठ
आगरा

दो शब्द

विता जीवन की व्याख्या है, आज इस सिद्धान्त पर कोई आपत्ति नहीं रह गई है। सुन्दर को असुन्दर से पृथक करना, सौन्दर्य की झांकी लेना और उसका रस प्राप्त करना,—कविता के लिए 'वाल्टर पेटर' की समीक्षा भी इसी बात की पुष्टि करती है, जीवन का कोई तात्विक विरोध नहीं पैदा करती। रही 'सत्' की खोज, सो 'सत्' की प्रेरणा मनुष्य मात्र के हृदय की स्वाभाविक वृत्ति है। मनुष्य मात्र सदाचार, सद्धर्म, सुप्रवृत्ति आदि से तृप्त होता है और उसके विपरीत गुणों से उसे घृणा होती है। मनुष्य की मानसिक तृषा-शांति के लिए उसे सुप्रवृत्तियों की आवश्यकता अनिवार्य रूप से होती है। इस अवस्था में हम कविता को मानव-अन्तःकरण का प्रतिबिंब मान कर, उसे 'सत्' से पृथक नहीं मान सकते।

और जो 'सत्' है वही 'शिव' और सुन्दर भी है।

प्रस्तुत पुस्तक 'सत्य हरिश्चन्द्र' जहाँ एक ओर कविता की व्याख्या में अपने में पूर्ण रचना है, वहाँ दूसरी ओर कर्म की भावना को प्रोत्साहन देकर हमें जीवन संग्राम में आगे बढ़ाने की

भूमिका तैयार करने में भी कम महत्व नहीं रखती। हरिश्चन्द्र का जीवन मानव-जीवन में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कवि-श्री की बहुमुखी प्रतिभा ने उसे अपनी सहज अनुभूति, करुणा, सेवा और चारित्रबल के सहारे और सुन्दर रूप दे दिया है। 'स्वांतः सुखाय' की सीमा में, हम इसे 'बहुजन हिताय', 'बहुजन सुखाय' रचना मानेंगे।

कवि-श्री का कवि-हृदय सत्य के महत्व को मानव-जीवन में एक पल के लिए भूल नहीं पाता है। मिट्टी का पुतला मानव किन उपकरणों को लेकर अपनी श्रेष्ठता का दावा कर सकता है, उसके साथ उसे श्रेष्ठ बना देने का कौन साधन है ?—सभी ओर से उनका हृदय जागरूक है, सचेत है। वह अतीत के उत्कर्ष पर मुग्ध हैं, और वर्तमान की हीनता पर क्षुब्ध। वह जानते हैं सत्य से दूर मानव-श्रेष्ठता का दावा व्यर्थ है, तभी तो कहने को बाध्य होते हैं—

अखिल विश्व में एक सत्य ही जीवन श्रेष्ठ बनाता है,
बिना सत्य के जप, तप, योगाचार भ्रष्ट हो जाता है।

× × × ×

यह पृथ्वी, आकाश और यह रवि-शशि, तारा मंडल भी,
एक सत्य पर आधारित है, क्षुब्ध महोदधि चंचल भी।
जो नर अपने मुख से वाणी बोल पुनः हट जाते हैं,
नर-तन पाकर पशु से भी वे जीवन नीच बिताते हैं।
मर्द कहाँ वे जो निज मुख से कहते थे सो करते थे,
अपने प्रण की पूर्ति हेतु जो हँसते-हँसते मरते थे ?

गाड़ी के पहिये की मानिँद पुरुष वचन चल आज हुए,
सुबह कहा कुछ, शाम कहा कुछ, टोके तो नाराज हुए।

मानव-हृदय की सात्विक प्रवृत्तियाँ विभव-विलास के वातावरण में उन्नति नहीं अपनातीं, त्यागी-से-त्यागी हृदय भी कुछ देर के लिए ही सही, विभव-विलास की छाया में आत्म-विस्मृत-सा हो जाता है। हरिश्चन्द्र की कमजोरी भी ऐसे अवसर में स्वाभाविक रूप में सामने आती हैं। रानी शैव्या का सौंदर्य, प्राप्त विभव-विलासों का आकर्षण, उसे कर्तव्य-क्षेत्र से दूर खींच कर राजप्रासाद का बन्दी बना देता है। प्रजा-पालक नरेश अपने को प्रजा के दुःख और कष्टों से अलग कर लेता है—'मोह निद्रा' की सृष्टि होती है, विभव-विलास, प्रिया-पुत्र ... कर्तव्य की धारा खड़ी यहीं समाप्त—मगर रानी का हृदय इस ओर अचेत नहीं है, वह स्नेह-प्रेम को समझती है और अपने को समझती है; प्रजा के दुःख-कष्ट उसकी आत्मा को कम्पित कर देते हैं—वह सोचने को बाध्य होती है—

"रूप-लुब्ध नर मोह पाश में बँधा प्रेम क्या कर सकता,
श्वेत मृत्तिका-मोहित कैसे जीवन-तत्व परख सकता।
मैं कौशल की रानी हूँ, बस नहीं भोग में भूलूँगी,
कर्म-योग की कण्टक दोला पर ही संतत झूलूँगी।

भारतीय नारी का यह शुष्ठु हृदय किसको मुग्ध नहीं बना देगा? शैव्या अपने वियोग का दुःख भुला कर हरिश्चन्द्र को स्वर्ण-पुच्छ मृग-शावक के खोज में राज-प्रासाद से बाहर भेज देती है—प्रजाओं के बीच, नग्न सत्य का रूप देखने और यह

देखने कि नैसर्गिक सुन्दरता राज-प्रासाद की सुन्दरता से घट कर नहीं है। राज-प्रासाद की सीमित सुन्दरता किसी एक के लिए है तो प्रकृति की असीम सौंदर्य-राशि सर्व जन सुलभ। प्रकृति की गोद में बैठकर मानव अपने जीवन का सामंजस्य, कर्म-की प्रेरणा, सहज भाव से प्राप्त कर सकता है। कवि-श्री की भावना यहाँ सुप्त हृदय को उत्तेजना देती है—

"प्राप्त कर सद्गुण न बन पागल प्रतिष्ठा के लिए,
जब खिलेगा फूल-खुद अलि-वृन्द आ मंडरायगा।
फूल-फल से युक्त होकर वृक्ष झुक जाते स्वयं,
पाके गौरव मान कब तू नम्रता दिखलायगा!
रात-दिन अविराम गति से देख झरना बह रहा,
क्या तू अपने लक्ष्य के प्रति यों उछलता जायगा!
दूसरों के हित 'अमर' जल-संग्रही सरवर बना,
दीन के हित धन लुटाना क्या कभी मन भायगा!"

हम यहाँ भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि के रूप में कवि-श्री को देखने को वाध्य होते हैं Domestic Sentiment (गार्हस्थ-भाव) में ही वह त्याग की अर्चना हमें सिखाते हैं, यह उनकी विशेषता है। अपने त्याग-पूर्ण जीवन में यह बात नहीं कि उन्होंने सांसारिक व्यथा-वेदनाओं पर से अपनी आँखें फिराली हैं, करुणा और दया के अटूट सम्बन्ध ने आपके काव्य और व्यक्तित्व दोनों को भाव-विकल बनाया है। भाग्यचक्र में अपनी सारी राज्य-सम्पत्ति विश्वामित्र को दान में देकर हरिश्चन्द्र जब शरद्-जलद के समान हल्का और निर्धन हो जाता है—दुनिया की

दृष्टि में बहुत ऊपर उठ जाता है। अतीत का विभव-विलास उसके लिए स्वप्न बन कर रह जाता है। वर्तमान में नंगे पैरों उसका अभियान, प्रिया-पुत्र के साथ आत्म-विक्रय के लिए काशी की ओर होता है। भूख की ज्वाला मानव हृदय को नीच-से-नीच प्रवृत्तियों पर उतार लाती है, मगर ऐसा होता है वहीं-जहाँ भूख-क्षुधा का महत्व मानव-मर्यादा से अधिक आँका जाता है। ऐसी घड़ियों में हरिश्चन्द्र की कर्तव्य-निष्ठा और आत्म-गौरव मानव-श्रद्धा की वस्तु बन कर सामने आती है। वह जीवन-धारण के लिए—परिश्रम का भोजन प्राप्त करेगा, क्षत्रिय-धर्म में किसी की दी हुई वस्तु का ग्रहण उसके लिए अनुचित है।

'भिक्षा या अनुचित पद्धति से ग्रहण न करते भोजन भी,
सत्य-धर्म से तन क्या डिगना, डिगता है न कभी मन भी।
सत्य कहा है सत्पुरुषों का असि-धारा-सा जीवन है,
न्याय-वृत्ति से पतित न होते, संकट में न प्रकंपन है।

कवि-श्री का हृदय हरिश्चन्द्र की कर्तव्य-निष्ठा पर मात्र गर्वित होकर ही नहीं रह जाता, वह दुनियां में धनी-दीन का संघर्ष, उपेक्षा-पीड़ा का जन्म भी अनुभव करता है। इस प्रकार उनकी कल्पना, अपनी परिधि बढ़ाकर उन्हें वर्तमान काल की त्रस्त मानवता का चित्र देखने को वाध्य करती है—वह सर्वहारा दल की ओर से नहीं—मानवता की ओर से पुकार उठते हैं—

बड़ा दुःख है, बड़ा कष्ट है, धनवालो क्या करते हो ?
दीन-दुखी का हृदय कुचलते नहीं जरा भी डरते हो ?

लक्ष्मी का क्या पता, आज है कल दरिद्रता छा जाए,
दो दिन की यह चमक-चाँदनी, किस पर हो तुम गरवाए?

× × × ×

धन दौलत पाकर भी सेवा अगर किसी की कर न सका,
दयाभाव ला दुःखित दिल के जख्मों को यदि भर न सका।
वह नर अपने जीवन में सुख शान्ति कहाँ से पाएगा,
ठुकराता है जो औरों को, स्वयं ठोकरें खाएगा।

The Prison yard का अमर चित्रकार अपने चित्रों के लिए I want to paint humanity, humanity and again humanity का उत्साह पालता था; humanity ही अपने उत्कर्ष पूर्ण रूप को लेकर मनुष्य को देवता—नहीं उससे भी ऊपर—का स्थान प्रदान कर सकती है। हम अपने सुख-दुःख को संसार के सुख-दुःख में मिलाकर ही उनका वास्तविक अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। करुणा-दया को समझ कर ही मानव अपने आप को समझ सकता है—हम आत्म-चिंतन की घड़ियों में इस पर सोचने का कष्ट क्यों नहीं उठाते? दूसरों की कठिन विपत्ति हमारे लिए कुछ महत्व नहीं रखती, यह मनुष्यता का अपमान है। हरिश्चन्द्र का राज्य छूटा, प्रिया छूटी और पुत्र छूटा—कर्तव्य की वेदी पर उसने सर्वस्व का बलिदान किया; चांडाल की सेवा वृत्ति स्वीकार की उसका आदर्श चित्र संसार की आँखों में विस्मय भरने में समर्थ हुआ। अब कवि-श्री के द्वारा चित्रित इसी संसार में रहने वाले द्विज-पुत्र का चित्र देखिए।

रानी शैव्या, पति-ऋण चुकाने में ब्राह्मण परिवार की दासी

बनी—कठिन श्रम उठाना स्वीकार किया······उपेक्षा, घृणा, कष्ट सब कुछ—अपने आशा-धन रोहित पुत्र को सामने रख कर सहने का व्रत लिया। भविष्य की कल्पनाएँ उसके साथ हैं—कभी रोहित उसका उद्धार कर सकेगा······मगर भाग्य-चक्र में रोहित भी असमय उसका साथ छोड़ देता है, काल-सर्प का कठिन प्रहार सुकुमार बालक नहीं सह सका। माता का हृदय एक बार ही विदीर्ण हो गया—उसकी यह चीत्कार—

हा रोहित, हा पुत्र ! अकेली छोड़ मुझे तू कहाँ गया ?
मैं जी कर अब बता करूँ क्या ? लेचल मुझको जहाँ गया।
पिछला दुख तो भूल न पाई, यह आ वज्र नया टूटा।
तारा तू निर्भागिनि कैसी, भाग्य सर्वथा तव फूटा॥

—की ध्वनि-प्रति ध्वनि किसी भी हृदय को कंपित कर देने में समर्थ है मगर द्विज-पुत्र को इससे क्या, तारा उसकी दासी है उसे सुख पहुँचाने के लिए, अपने रुदन-स्वर से उसका हृदय दुःखित करने के लिए नहीं। वह चिल्ला पड़ता है—

रोती क्यों है ? पगली हो क्या गया ? कौन-सा नभ टूटा,
बालक ही तो था दासी के जीवन का बन्धन-छूटा।

× × ×

क्या उपचार ? मर गया वह तो मृत भी क्या जीवित होते ?
हम स्वामी दासों के पीछे द्रव्य नहीं अपना खोते।

यह स्वामित्व, मानवता के लिए कितना बड़ा अभिशाप है ? ओह !

हरिश्चन्द्र का चारित्रिक 'क्लाइमेक्स' कफ़न कर वसूल करने में हमारे सामने आता है—सेवक का कर्तव्य वह नहीं छोड़

सकता—उसे तो वह चरम सीमा तक पहुँचा कर ही रहेगा। हरिश्चन्द्र, हरिश्चन्द्र है और संसार-संसार। एक क्षण के लिए भी संसार यदि हरिश्चन्द्र का आदर्श अपना ले तो उसका नारकी रूप—स्वर्ग-छटा में बदल जाय।

कवि-श्री का 'सत्य हरिश्चन्द्र' काव्य आदि से अन्त तक मानवता का आदर्श, एवं करुणा उद्भावना उपस्थित करने वाला काव्य है। इसमें ओज है-प्रवाह है और है शुष्ठु कल्पना। हम इसे अपनी विचार-धारा में महाकाव्य ही कहेंगे—नियम-निषेध से दूर। हरिश्चन्द्र अपने में पूर्ण है, उसका चरित्र भी अपने में पूर्ण हैं- ऐसी अवस्था में यह हरिश्चन्द्र-काव्य, खण्ड काव्य की श्रेणी में किसी तरह नहीं आता।

जानबूझ कर भाषा शैली को दुरूह और अस्पष्ट बनाने की परिपाटी से कवि-श्री जी ने अपनी कविता को पृथक रखा है—उनका उद्देश्य, उनके सामने रहा है और उनका उद्देश्य सर्व साधारण में human personality. मानवीय व्यक्तित्व को प्रश्रय देना मुख्य है। हमें विश्वास है—'सत्य हरिश्चन्द्र' काव्य उनके उद्देश्य को आगे बढ़ावेगा।

रत्न-निवास, —कुमुद विद्यालङ्कार
लोहामन्डी, आगरा।

सत्य हरिश्चंद्र

'अमर'

उपक्रम

जगती ज्योति अखण्ड नित शुद्ध सत्य की यत्र;
यश, लक्ष्मी, सौभाग्य, सुख रहते अविचल तत्र।

आज सत्य की महिमा का मधु गान सुनाने आया हूँ;
अन्तस्तल से जन्म-जन्म के पाप धुलाने आया हूँ।

अखिल विश्व में एक सत्य ही जीवन उच्च बनाता है;
बिना सत्य के जप, तप, योगाचार भ्रष्ट हो जाता है।

वीर प्रभू का प्रश्न व्याकरण अङ्ग सूत्र में है कहना;
'सत्य स्वयं भगवान' इसी की आज्ञा में निशि-दिन रहना।

यह पृथ्वी, आकाश और यह रवि-शशि तारामण्डल भी;
एक सत्य पर आधारित हैं, क्षुब्ध महोदधि चंचल भी।

जो नर अपने मुख से वाणी बोल पुनः हट जाते हैं;
नर-तन पाकर पशु से भी वे जीवन नीच बिताते हैं।

मानव-जीवन पुष्प मनोहर, सत्य सुरभि है अति प्यारी;
बिना सुरभि के पुष्प जगत में पाता है अपयश भारी।

सत्य हरिश्चन्द्र

नश्वर मृदु तन, नश्वर वैभव, नश्वर मानव-जीवन है;
अविनाशी बस एक मात्र यह त्रिभुवन में सच का धन है।

भारत ने भगवान सत्य की महिमा को पहचाना था;
अस्तु, भूमि से स्वर्गलोक तक कीर्ति-वितान विताना था।

सत्य-धर्म की रक्षा के हित सब कुछ अर्पण कर दीना;
सत्य देव का, प्राणों की बलि देकर भी पूजन कीना।

पता तुम्हें है राम, राज्य तज सहे दुःख के झटके क्यों ?
पता तुम्हें है भूप युधिष्ठिर, वन-प्रतिवन में भटके क्यों ?

सत्य-वीर थे प्रण-प्रतिपालक, सत्य नहीं अपना छोड़ा;
अतएव भारती जनता के घट-घट से नाता जोड़ा।

आज विश्व में कलि के कारण बढ़ा असत्य भयंकर है;
बूढ़े, बालक, युवा सभी के मन में कर बैठा घर है !

मर्द कहाँ वे जो निज मुख से कहते थे, सो करते थे;
अपने प्रण की पूर्तिहेतु जो हँसते-हँसते मरते थे।

गाड़ी के पहिये की मानिंद पुरुष-वचन चल आज हुए;
सुबह कहा कुछ, शाम कहा कुछ, टोके तो नाराज हुए।

अखिल विश्व के रंगमंच से हो असत्य की क्षय क्षय क्षय;
आओ, फिर से सत्य प्रभू की बोलें जग में जय जय जय !

हरिश्चन्द्र

हरिश्चन्द्र थे सत्य के व्रती एक भूपाल;
सानुराग जीवन सुनें, कटें पाप के जाल।

आदि-काल में ऋषभदेव ने,
कहाँ धर्म-ध्वज फहराया ?
कर्म-विमुख जनता को सत्पथ
कर्म-योग का, बतलाया ?

कहो कौनसी नगरी है वह,
जहाँ भरत का शासन था ?
सुखी प्रजा को जहाँ तुच्छ-तम,
कभी स्वर्ग-सिंहासन था !

भारत का यह कौशल जनपद,
यही अयोध्या नगरी है;

सत्य हरिश्चन्द्र

सरयू की कल-कल जलधारा,
बहती कितनी सुथरी है!

लक्ष्मी ने शृंगार अनूठा,
क्या सब ओर सजाया है!
स्वर्ग-लोक की अलका का भी,
लख सौभाग्य लजाया है!

सूर्यवंश-धर हरिश्चन्द्र हैं,
राज-मुकुट के अधिकारी;
प्रजा पुत्र-सम पालन करते,
नीति - युक्त शुद्धाचारी!

हृदय-कमल में करुणामृत है,
कर-कमलों में दानामृत;
मुख मण्डल पर हास्यामृत है,
जिह्वा में मधु वचनामृत!

दुराचार का नाम नहीं है,
सदाचार की अर्चा है;
दूर-दूर तक "यथा भूपतिः
तथा प्रजा" की चर्चा है!

सत्य हरिश्चन्द्र

पर-धन पर-वनिता पर कोई,
कभी नहीं है ललचाता;
अपने बल-उद्यम पर सबका,
जीवन-रथ है गति पाता।

कविता की भाषा में कह दूँ,
चन्द्र-कला में क्षय केवल;
दण्ड वृद्ध का आलम्बन था,
कुम्भकार का है संबल!

जनता के मन में न कालिमा,
कृष्ण भ्रमर हैं फूलों पर;
घृणा किसी को नहीं किसी से,
घृणा पाप के कूलों पर!

चंचलता सरिता लहरों में,
मणि-माला में बन्धन है;
सर्प जाति में मात्र वक्रिमा,
सरल प्रकृति से जन-मन है।

जीवन-सङ्गिनी

तन-मन पर तारुण्य का बहता प्रबल प्रवाह;
प्रजा, सचिव चिन्तित सभी करते क्यों न विवाह !

मन्त्रीश्वर ने कहा—"भूप, क्यों सम्राज्ञी का पद खाली;
यौवन-वय में क्यों न गृही के जीवन में है हरियाली ?
सूर्यवंश के राजाओं का न्याय सदा से आया है;
प्रथम गेह में पत्नी व्रत फिर त्याग मार्ग अपनाया है !

किन्तु आपने त्याग मार्ग क्यों पहले ही अपना लीना;
स्वर्ण महल सूना-सूना है, क्यों पूर्वज-पथ तज दीना ?
बड़े-बड़े राजा, राजेश्वर प्रणय-निमन्त्रण लाते हैं;
एक-एक से सुन्दर कन्याओं के चित्र दिखाते हैं।

किन्तु आपके मन में क्या है, नहीं जरा भी 'हाँ' भरते;
जब भी जिक्र जरा सा चलता, तभी शीघ्र 'ना-ना' करते।

आशङ्कित है प्रजा आपकी, कहीं भूप वैराग्य न लें;
हमें त्याग कर, साधू बन कर, वन-पर्वत की राह न लें।
सही आप में नहीं वासना, किन्तु प्रार्थना स्वीकृत हो;
महारानि का दर्शन पाकर प्रभो, प्रजा-मन प्रमुदित हो।

कहा भूप ने हँस कर—"मन्त्री व्यर्थ हुई यह चिन्ता क्या ?
कहाँ त्याग वैराग्य ? गृही की पूर्ण हुई मर्यादा क्या ?
वैवाहिक जीवन की चिन्ता से ही मैं भी चिन्तित हूँ;
सूर्यवंश का चुका चलूँ ऋण, हुआ यदर्थ समर्पित हूँ।
किन्तु योग्य गृहिणी न मिले तो मंत्री ! मेरा क्या दूषण ?
गृही धर्म में गुणशीला ही पत्नी है पति का भूषण !"

गीत

गृह-पत्नी प्रेम-पुजारन हो;
निज परिजन की मन-भावन हो।

तन भी सुन्दर, मति भी सुन्दर;
जीवन की हर गति भी सुन्दर;
कथनी सुन्दर, कृति भी सुन्दर;

वह गृहिणी जग बड़ भागन हो;
गृह-पत्नी प्रेम-पुजारन हो।

आस-पास में प्रेम की वृष्टि;
नौकर चाकर पर सम दृष्टि;
दीन दुखी पर करुणा-सृष्टि;

वह स्नेह-दया से सावन हो;
गृह-पत्नी प्रेम-पुजारन हो!

भीम भयंकर कष्ट सहे;
किन्तु 'अमर' पति-संग रहे;
इक शब्द बुरा न कदापि कहे;

वह सजनी, गृह-सुख-साधन हो;
गृह-पत्नी प्रेम-पुजारन हो!

और अधिक क्या मंत्री को राजा ने निज मत समझाया;
अवसर आने पर पत्नी के बरने का प्रण बतलाया!

बीते कुछ दिन यों ही, आया मास वसन्त मनोहारी;
प्रकृति नटी ने शोभा धारण की अति ही प्यारी-प्यारी!
वन-उपवन में, तरु-माला पर सुन्दर हरियाली छाई;
शीतल मन्द सुगन्ध पवन में अभिनव मादकता आई!

वन-यात्रा को चले हमारे कौशल के अधिनायक भी;
आता है अब समय नृपति का जीवन-रुचि-निर्मायक भी!

कौशल की पश्चिम सीमा पर शोणप्रस्थ इक पुरवर है;
देवरात राजा हैं, जिनको पाकर आनँद घर-घर है।
राजा हरिश्चन्द्र ने डेरा डाला वहीं सरोवर पर;
देख-देख प्रमुदित होते हैं, शोभा उपवन की सुन्दर!

राजकुमारी देवरात की श्रेष्ठ सुन्दरी श्री तारा;
निज सखियों के साथ सरोवर आई शुभ-स्नेहागारा!
पुष्पहार रचकर नाना-विधि क्रीड़ा-कौतुक करती है;
स्फटिक-स्वच्छ गंगाधारा-सी राजा का मन हरती है।

वृद्धा एक सरोवर-तट पर जल-घट भरने आती है;
जलभर कर चलने लगती है, कम्पित हो गिर जाती है।

प्रस्तर-पथ पर लगी चोट अति, करती है करुणा-क्रन्दन;
राजकुमारी तारा भग कर आई झटपट सुन रोदन।

दयाभाव से स्नेह भाव से बुढ़िया की परिचर्या की;
स्वस्थचित्त हो बुढ़िया ने भी शुभाशीष की वर्षा की!

"राजकुमारी! नहीं मानुषी, तू है देवी सर्वोत्तम;
धन्य भाग्य हैं शोण-प्रजा के बरस रहा है शम पर शम!
जैसी है वैसा ही तू पति भी सर्वोत्तम पाना;
महिमान्वित हो स्वर्णासन पर तू सम्राज्ञी कहलाना!"

गीत

दया बिन बावरिया, हीरा जन्म गँवाये;
कि पत्थर से दिल को, क्यों ना फूल बनाये !

कोमलता का भाव न मन में,
फिर क्या सुन्दरता से तन में;
जीवन विष बरसाये।

दीन दुखी की सेवा कर ले,
पाप-कालिमा अपनी हर ले;
तिहुँ जग मंगल गाये !

धन-लक्ष्मी का गर्व न करना,
आखिर तो सब तजकर मरना;
पर–हित क्यों न लुटाये !

यह जीवन है एक कहानी,
पाप-पुण्य हैं शेष-निशानी;
'अमर' सत्य समझाये !

राजा ने देखा तो मानस हुआ हर्ष से परि-पूरित;
बोले मंत्रीश्वर से "अपना कार्य कीजिए अब प्रमुदित।

सम्राज्ञी के सिंहासन का आज प्रश्न हल होता है;
रूपोचित सत्कार्य हृदय में बीज प्रेम का बोता है।
अगर व्याह करना है तो बस इसी नृपति-सुकुमारी से;
वर्ना तो आजन्म रहेंगे हरिश्चन्द्र ब्रह्मचारी से।"

मंत्री ने झट जाकर नृप से करी प्रार्थना हर्षित हो;
स्वीकृत, निश्चित, विहित प्रणय-कृत हुआ सभी सु-स्थिर चित हो।

राजकुमारी तारा देवी महारानि बन आई हैं;
कौशल-जनपद में सावन-सी हर्ष-घटाएँ छाई हैं।

पुरी अयोध्या की जनता ने तारा का स्वागत कीना;
"कैसी सुन्दर यह जोड़ी है, धन्य-धन्य, युग-युग जीना!"

राजा-रानी दोनों ही नित प्रजा-पालना करते हैं;
स्थूल भूमि पर सूक्ष्म प्रजा के मन में नित्य विचरते हैं!
तारा की क्या महिमा कहनी, श्रेष्ठ सुन्दरी रानी हैं;
धर्म-प्राण हैं, पति प्राण हैं, राजा के मन-मानी हैं।

तन की मन की सुन्दरता में लगी होड़ है अति भारी;
तन से सुन्दर मन है, मन से सुन्दर तन की छवि न्यारी!
पढ़ी लिखी विदुषी हैं, गृह के सर्व कार्य में निपुणा हैं;
दयामयी हैं स्नेहमयी हैं, सदाऽशरणजन-शरणा हैं।

सम्राज्ञी के ऊँचे पद की कभी नहीं छलना छलती;
छोटे से छोटे जन से भी स्नेह-भावना से मिलती।

मोह-निद्रा

जीवन की गति विकट है, सदा न रहती एक;
चित्त-महोदधि में सतत, उठतीं वीचि अनेक !

भारतीय-संस्कृति में सबने—
गृही-गुणों को गाए हैं:
पति-पत्नी स्वर्गीय मार्ग के
अविचल पथिक बताए हैं !

पति - पत्नी में जहाँ प्रेम का
अमृत - सागर लहराता;
दुःख-द्वन्द्व क्या कभी भूल कर,
वहाँ फटकने भी आता ?

किन्तु प्रेम की सीमा है कुछ,
सीमा ही जग - भूषण है;

सीमा के बिन अच्छा से हाँ,
अच्छा पथ भी दूषण है।

रूप - मोहिनी तारा को पा,
राजा होश भुला बैठे;
विषय-भोग के भूले पर सब,
निज कर्तव्य भुला बैठे।

रात्रि दिवस संकल्प-लोक में,
तारा, तारा, तारा है;
राजनीति के परिचित पथ से,
इक दम किया किनारा है।

जब से रोहित पुत्र हुआ, तब
से तो दशा निराली है;
जो भी था कुछ शेष कर्म-पथ,
उससे दृष्टि हटाली है।

कुछ रानी से, कुछ रोहित से,
बातें करते दिन जाते;
न्यायालय में कार्यार्थी जन,
प्रतिदिन शोर मचा जाते।

रानी को जब पता लगा जन-
पद की दुःख-कहानी का;
अपने को ही कारण समझा,
राजा की नादानी का!

"नारी, क्या कर्तव्य - भ्रष्ट ही
करती जग में मानव को;
देश, जाति के जीवन में क्या,
पैदा करती लाघव को।"

"सरस्वती, लक्ष्मी की सखियाँ,
क्या महलों की तितली हैं?
लक्ष्य-भ्रष्ट हो नर ने समझा,
वे भोगों की पुतली हैं।"

"यही प्रेम क्या, ऋषि मुनियों ने
जिसकी गाई है महिमा;
नहीं प्रेम यह, नीच मोह है,
होती है जिससे लघिमा।"

"रूप-लुब्ध नर मोह-पाश में,
बँधा प्रेम क्या कर सकता;

श्वेत - मृत्तिका - मोहित कैसे,
जीवन - तत्त्व परख सकता ?"

"मैं कौशल की रानी हूँ, बस,
नहीं भोग पर भूलूँगी;
कर्म - योग की कण्टक - दोला,
पर ही सन्तत भूलूँगी ।"

"यह शोभा-शृंङ्गार सकल तज,
तपस्विनी बन जाना है;
लक्ष्य - भ्रष्ट राजा को फिर से,
नीति - मार्ग समझाना है ।"

———

जागरण

राजा ने कर्तव्य पर, किया अटल विश्वास;
स्वीकृत कर पथ त्याग का छोड़े भोग-विलास।

राग-रंग शृंगार सभी से रानी ने निज मुख मोड़ा;
भोग-पिपासा-जनक वस्त्र औ' भूषण से नाता तोड़ा।
सीधी-सादी-सी गृहिणी बन गई रूपसी क्षण-भर में;
आन विराजी विलासिता की जगह सादगी-मन्दिर में।

आज नारियाँ अपने पति को मोह-पाश में रखने को;
करतीं क्या-क्या जादू टोने, गिरा गर्त में अपने को।
कहाँ पूर्व युग, तारा देखो निष्कलंक पथ पर चलती;
स्वयं भोग तज, पति के हित दृढ़ त्याग साधना में ढलती।
आकस्मिक यह लख परिवर्तन राजा हुए चकित-विस्मित;
लगे पूछने, रानी से सस्नेह भावना से सस्मित।

"आज प्रिये, क्या हुआ तुम्हें, यह कैसा अभिनव परिवर्तन ?
पुष्प-सुकोमल गात्र तुम्हारा, यह कैसा कण्टक-जीवन ?
अलंकार से शून्य देह पर यह मोटी साड़ी कैसी ?
कौशल की सम्राज्ञी कैसी बनी दीन दुखिया जैसी !

अगर दोष कुछ मेरा हो तो कर मृदुभाव क्षमा कीजे;
और किसी से हुआ निरादर, वह भी शीघ्र बता दीजे।
सम्राज्ञी का करे निरादर फिर क्या आशा जीवन की;
नाम बताते ही मैं बोटी-बोटी कर दूँगा तन की !"
रानी बोली तन कर—"हाँ, हाँ यही आप कर सकते हैं;
रक्षण तो क्या, दीन-प्रजा का जीवन ही हर सकते हैं।
हृदय-हीनता की सीमा है, राजा भी क्या मानव है;
शासन-दण्ड प्राप्त कर मानव, बनता सचमुच दानव है।

लघुतम सा, अपराध कहाँ, औ कहाँ ज़िन्दगी का मर्दन;
न्याय नहीं, यह सत्ता का है गर्व-भरा ताण्डव-नर्तन।
मेरे दासी-दास मुझे निज प्राणों से भी प्यारे हैं;
स्वेद विन्दु पर जीवन देते स्वार्थ-दम्भ से न्यारे हैं।
अधिक चतुरता दम्भ-युक्त होती है बस-बस क्या लेना;
अपना दोष और के शिर पर अच्छा नहीं लगा देना।"
विस्मय युत हो हरिश्चन्द्र ने कहा—"प्रिये, क्या कहती हो ?
'मैं दोषी हूँ' कहो कौन से भ्रान्ति-सिन्धु में बहती हो ?

ब्याह-दिवस से तुझे स्नेहवश शिर-आँखों पर रक्खा है;
मैंने तो सर्वस्व निछावर तुझ पर ही कर रक्खा है !"

तारा बोली—"रहने दीजे, ये चिकनी-चुपड़ी बातें;
ऊपर के मधु-वर्षण से क्या, मिटी न जो दिल की घातें।
यह वैभव, यह सुख-सज्जा, सच कहदूँ प्रेम नहीं होता;
सच्चा प्रेम हृदय से होता कटुता के मल को धोता।

सम्राज्ञी का आसन पाकर मैंने क्या गौरव पाया ?
नारी-जीवन के पद-पद पर दृढ़ अभेद्य बंधन छाया।
स्वयं आप जो कुछ लाते हैं, वह मैं अपना लेती हूँ;
पर स्वतंत्र निज मन की गति को नहीं उभरने देती हूँ।"
"क्या स्वतंत्र इच्छा है कहिए' हरिश्चन्द्र राजा बोले;
रानी ने भी निज पति के हित स्पष्ट भाव मन के खोले।

"बीते युग की क्या इच्छाएँ, वर्तमान ही रख लीजे;
सत्य स्नेह है, नहीं झूठ है, निश्छल हो दिखला दीजे।
स्वर्ण-पुच्छ मृग, शिशु रोहित के लिये अतीव अपेक्षित है;
क्रीड़ा प्रिय है, बालक है, पर पैत्रिक-प्रेम उपेक्षित है।"

राजा सहसा बोल उठा—हा, रानी, यह क्या कहती हो ?
कैसे निज भर्ता का निज-कृत तिरस्कार तुम सहती हो ?
पितृ-हृदय की कोमलता को स्पष्ट न तुमने लख पाया;
रोहित मेरा पुत्र, उपेक्षा भाव कहाँ क्या दिखलाया ?

एक नहीं, शत स्वर्ण-पुच्छ के मृगशिशु मैं ला सकता हूँ;
तुच्छ बात पर इतनी झंझट तुमको क्या कह सकता हूँ ?"

तारा बोली—"अगर प्रेम है, नौकर से मत मँगवाएँ;
शून्य वनों में सतत भ्रमण कर स्वयं आप ही ले आएँ।
एक पक्ष की मर्यादा, मृगशिशु की शोध लगा लेना;
पक्षानन्तर दासी को पतिदेव शीघ्र दर्शन देना।"

हरिश्चन्द्र कुछ सैनिक लेकर चला अश्व चढ कानन को;
वन्य-पवन से स्फूर्तियुक्त दृढ होते देखा निज तन को।
नाना विधि पक्षी गण नभ में पंक्तिबद्ध होकर उड़ते;
तरु-शृंगों पर कल-रव द्वारा पथिकों के मन को हरते
फल फूलों से लदे द्रुमों की शोभा अति ही सुन्दर है;
गहरी छाया, श्रान्त क्लान्त के लिए स्वर्ग से बढ़कर है।
एक-एक से सुन्दर पशु भी फिरते हैं लीला गति से;
शशक और मृग कोमल वपु हैं, भद्र प्रकृति से आकृति से।

क्रुद्ध सिंह की भीम गर्जना आती है गिरि गह्वर से;
मृग-पति बना शक्ति के बल पर कहती है कम्पित नर से।
श्वेत स्वच्छ रजताकृति निर्झर उद्धत गति झर-झर बहता;
पलभर का विश्राम न लेता, गण्ड शैल-टक्कर सहता।
राजा हर्षित हुआ देखकर प्रकृति नटी की सुन्दरता;
जीवन में कर्तव्य जगा, हट गई भोग की किंकरता!

गीत

रे नगर के कीट नर, कब शान्त वन में आयगा;
देखकर शोभा प्रकृति की कब हृदय हरषायगा !

आँख दोनों खोल कर कुछ देखले, कुछ सीखले;
शिष्य बन कुछ दिन प्रकृति का, स्वच्छ जीवन पायगा !

प्राप्त कर सद्गुण न बन पागल प्रतिष्ठा के लिए;
जब खिलेगा फूल खुद अलिवृन्द आ मँडरायगा !

फूल-फल से युक्त होकर वृक्ष झुक जाते स्वयं;
पाके गौरव मान कब तू नम्रता दिखलायगा !

रात-दिन अविराम गति से देख झरना बह रहा;
क्या तू अपने लक्ष्य के प्रति यों उछलता जायगा !

दूसरों के हित 'अमर' जल संग्रही सरवर बना;
दीन के हित धन लुटाना क्या कभी मन भायगा !

पक्षाधिक वन-पथ में भटका, स्वर्ण पुच्छ क्या मिलना था;
यह तो केवल बुद्धियोग से कर्मयोग में ढलना था।
सहस्राधिक मृगशिशु आँखों के आगे से प्रति दिन निकले;
किन्तु न देखा स्वर्ण-हरिण जब, हरिश्चन्द्र खुद ही सँभले !

"मूढ बना है, भला कहीं भी सोने का मृग हो सकता ?
अटल प्रकृति का नियम कभी क्या निज मर्यादा खो सकता ?
तारा ने यह क्या माया रच मुझको विभ्रम में डाला;
कुटिल हृदय है नारी का, कुछ दिखता है काला-काला !

स्नेह-पाश में जिसके मैंने निज कर्तव्य भुला दीना;
दीन प्रजा की सुध-बुध भूला, अवनति का दुष्पथ लीना।
वही मोहिनी, बनी द्रोहिणी, दम्भ-जाल रचनेवाली;
अमृत में विष भरा, अरे यह दुनिया है बस मतवाली !"

पल में चित्र चित्त का बदला—"पापी मन, यह क्या सोचा;
पतिव्रता के शुभ-चरित्र पर फेरा क्या गन्दा पोचा।
तारा का मन सपने में भी कभी न उत्पथ जा सकता;
लाख-लाख संकट सहकर भी भाव विरूप न ला सकता।
सूर्य चन्द्र की मर्यादा का भेद भले ही मिट जाए;
क्या मजाल जो तारा अपने शील-मार्ग से हट जाए ?
संभव है, इस घटना में हो कोई गूढ़ रहस्य छिपा;
भाग्यवती तारा के द्वारा नियति-नटी की हो न कृपा ?"

वन से लौटे तो जनपद की दशा दृष्टि में आई है;
शान्त हृदय पर प्रजा व्यथा घन घोर घटा बन छाई है
गाँव-गाँव में तन पर, मन पर बड़ी गरीबी लख पड़ती;
दीन-प्रजा जीवित होते भी मुर्दों के सदृश सड़ती।

आँखों देखा, सुना कान से, शासन की न व्यवस्था है;
हरिश्चन्द्र ने समझा तेरे कारण ही दुरवस्था है।

"तूने भोग-विलासी बन कर निज कर्तव्य भुला डाला;
दीन प्रजा को पड़ा, लालची अधिकारी गण से पाला।
अब न भूल यह होने दूँगा, शासन-सूत्र सँभालूँगा;
कौशल में से भूख, दैन्य, अन्याय, अधर्म निकालूँगा।
सूर्यवंश की न्याय-पताका अब न कलंकित होवेगी;
सत्यव्रत की सन्तति अपनी मर्यादा कब खोवेगी?"

पथ में मिलते बाल, वृद्ध, नवयुवकों से बातें करते;
पास अयोध्या के आ पहुँचे भव्य-भाव मन में भरते।

पुनर्मिलन

वन में मृग शिशु के लिए, जब से गए नृपाल;
तारा ने पति-विरह का, पाया कष्ट कराल !

रानी ने कर्तव्य-विवश हो राजा को भेजा वन में;
आँखों देखें दीन प्रजा की दशा, विचारें कुछ मन में !
कुछ दिन मुझ से अलग रहें तो स्वयं वासना से छूटें;
कर्म-योग में रत हों, बन्धन सभी अविद्या के टूटें !

अमृत-घट पर विष का ढक्कन, तारा का यह जीवन था;
ऊपर पत्थर, किन्तु हृदय के अन्दर मृदुतम मक्खन था !
भूपति के जाने के पीछे कोमलता ऊपर आई;
पतिव्रता के तन पर, मन पर निजपति की चिन्ता छाई !

"निर्जन वन में कहाँ भटकते होंगे मेरे प्राणाधार;
भूख-प्यास की पीड़ाओं का कैसे सहते होंगे भार !

फूल-सेज पर सोने वाले पृथिवी पर सोते होंगे;
हा ! हा !! कैसे पुष्प-सुकोमल अंग-अंग दुखते होंगे !
वे दुख भोगें, मैं सुख भोगूँ, ठीक नहीं मुझको जँचता;
पतिव्रता क्या, पापिन हूँ मैं, भीषण पाप मुझे लगता !"

रानी भी व्रत-तपश्चरण में लगी, क्षुधा-तृष्णा सहती;
कभी-कभी तो रूखा-सूखा भोजन खाकर ही रहती !
भूमि-शयन करती है, आधी रात रहे पर जग जाती;
पद्मासन से बैठ शान्ति-हित शान्तिनाथ के गुण गाती !

पक्षाधिक बीता तो चिन्ता-चक्र हृदय को चीर गया;
स्वर्ण-महल में मन न लगा, तब लताकुंज का मार्ग लिया !
सखी मल्लिका को सँग लेकर रानी उपवन में आई;
लता-कुंज में शिला-पट्ट पर बैठ सखी से बतलाई !

"यही कुंज है, जिसमें पति के संग अनेकों दिन बीते;
हर्ष, मोद, आमोद सभी कुछ पूर्ण किये बस, मन चीते !
आज वही सुख-कुंज,कुंज हा, मुझे काटने आता है;
शीतल मन्द सुगन्ध पवन का स्पर्श न मुझको भाता है !
सच है, पति के बिना सर्वथा पत्नी की दुनिया सूनी;
अन्तस्तल को चीर-चीर कर व्यथा जागती दिन-दूनी !
मैं तो बड़ी अभागन हूँ, जो स्वयं निकाला निज पति को;

सूर्यवंश की महिमा का बस भूत चढ़ा था मम मति को !
स्वर्ण-पुच्छ मृग भला कहाँ से, किस वन से पति लाएँगे:
सम्भव हो न असम्भव घटना, वृथा क्लेश ही पाएँगे !"

गीत

पतिदेव, आज तुम कहाँ दिल मेरा बेक़रार है;
रस-हीन शून्य विश्व है, यह जन्म भी असार है !
अन्दर हृदय में शोक की ज्वाला प्रबल धधक रही;
बाहर बसन्त की वृथा छाई हुई बहार है !
दिल खण्ड-खण्ड हो गया, सुख स्वप्न भङ्ग हो गया;
जब से वियोग-वज्र का पड़ने लगा प्रहार है !
सूने वनों में भूख की और प्यास की महती व्यथा;
सहते हैं आप जो, मेरे दुर्भाग्य की वह मार है !
दुख आप वन में भोगते, मैं महल में सुखी रहूँ,
यह खुल रहा है नरक का मेरे लिये तो द्वार है !
मुझ पै न रोष लाइये, बस शीघ्र लौट आइये;
जीवन कहाँ है, कण्ठ पै ग़म की फिरी कटार है !

रानी के दु:खित अन्तर में लगी उमड़ने शोक-घटा;
मूर्च्छा खाकर पड़ी भूमि पर जैसे जड़ से वृक्ष कटा !

सखी मल्लिका समझाती थी वह भी सब सुध-बुध भूली;
क्या कुछ करे, कराये? कुछ भी समझ न पाई मति फूली !

लता-कुंज की ओट अयोध्यापति भी आकुल व्याकुल थे;
रानी का लख स्नेह निसर्गज, प्रेमभाव में विह्वल थे !
ज्यों ही देखी मूर्च्छित रानी सहसा अन्दर को धाये;
अंचल से कर शीघ्र हवा, जल छिड़क चेतना में लाये !

पति को सम्मुख लख रानी के नहीं हर्ष का पार रहा;
नेत्र-युगल से अश्रु-रूप में झर-झर प्रेम-प्रवाह बहा !
पति के चरणों में वन्दन कर पूछी वनगत सुख साता;
गद्गद् होकर हरिश्चन्द्र भी बोले कौशल के त्राता !

"मेरी क्या चिन्ता, मैं तो हूँ चङ्गा वन में जाकर भी;
पर तुमने क्या हाल बनाया, राजमहल के अन्दर भी !
दुर्बलता कितनी छाई है बनी दोज की चन्द्र-कला;
खान-पान की सुध-बुध भूली, यह क्या चिन्ता-चक्र चला !
समझदार होकर भी तुम तो बनी सर्वथा ही भोली;
कुछ दिन के ही लिये गया था, इस पर यह काया डोली !"

तारा हो प्रकृतिस्थ शीघ्र ही सस्मित बोली मृदु वाणी;
स्वच्छ हृदय-पट खोल रहीं है, कपट न रखती कल्याणी !

"नाथ, करूँ क्या, कुछ ऐसा ही हृदय बना है नारी का;
दुर्बल मन है दास अशुभमय आशङ्का हत्यारी का!
वन में क्या-क्या कष्ट सहेंगे, कुछ भी ना सोचा पहले;
किन्तु अनन्तर आशङ्का से मानस के चिन्तन बदले!
हो जाता है कुछ ऐसा ही इसकी क्या चिन्ता करनी;
स्वर्ण-पुच्छ मृग कहाँ कि जिसके कारण पड़ी व्यथा भरनी"

राजा हँस कर बोले—"तुम तो बड़ी विचक्षण हो रानी;
स्वप्न-लोक की व्यर्थ कल्पनाओं से क्या आनी-जानी?
पक्षाधिक वन प्रतिवन घूमा, देखे पशु-पक्षी नाना;
किन्तु तुम्हारा स्वर्ण-पुच्छ मृग देख न पाया, क्या पाना!
तुमसी बुद्धिमती नारी, क्या कभी असम्भव हठ ठानें;
गुप्त-रहस्य क्या इसमें? बतला दीजे, हम भी तो जानें!"

गीत

प्राणेश्वर, रवि-तेज को दीपक का दिखलाना क्या?
वन-यात्रा की बात का मर्म तुम्हें समझाना क्या?

पशु पक्षी क्या, गिरि निर्झर क्या, पवन दौड़ता फिरता है;
अखिल विश्व गतिमय, न कहीं भी पलभर की भी स्थिरता है;
बहते जल का गर्त में सड़-सड़ कर सुख पाना क्या?

स्वर्ण पुच्छ-सम पूर्ण असम्भव शान्त वासना भोगों की;
कर्म-शून्य नर तेजहीन हो, बनता बसती रोगों की;
हरा भरा वन-कर्म के पथ का नहिं दीवाना क्या ?
मानव तन अनमोल प्राप्त कर कर्म-योग का पाठ पढ़ो;
जीवन-नभ में प्रतिपल प्रतिदिन अमर तेज की ओर बढ़ो;
कर्म योग की तान बिन जीवन वाद्य बजाना क्या ?

गीत

प्राण प्रिये, वन-भूमि का सुन्दर साज सजाना है;
वन-यात्रा के मर्म को जीवन पथ में लाना है!

वन-गुलाब ने सर्दी-गर्मी तूफानों का कष्ट सहा;
छोड़ा किन्तु न मार्ग प्रगति का तभी शान से महक रहा;
मानव निर्झर रूप है, उसे कहाँ सुस्ताना है ?
मानव होकर भी जो अपना लक्ष्य न पूरा कर पाया;
वह इस वसुधा-मण्डल पर, यदि आया भी तो क्या आया;
भोग-निरत होकर अमल जीवन-पुष्प सड़ाना है!
मानव तो आनन्द, स्फूर्ति, उत्साह, प्रगति का अनुगामी;
लक्ष्य भूल कर सुख-निद्रित हो बन जाता है प्रतिगामी;
'अमर' आज से कर्म का पथ अपना अपनाना है!
"धन्य, धन्य, शतवार धन्य है, रानी! तू सचमुच रानी;
समझाया कर्तव्य-मार्ग का पाठ हितङ्कर सुख-दानी!

सूर्यवंश के गौरव को मैं सदा सुरक्षित रक्खूँगा;
दीन प्रजा की उन्नति के हित उठा न कुछ भी रक्खूँगा !"

सन्ध्या होते राजमहल में आये, भूपति औ' तारा;
वन-प्रदेश-वर्णन में गुजरा पूर्वभाग निशि का सारा !
किंचित्काल शयन कर प्रातः उठे उषा की गरिमा में;
शौच, स्नान से निबट शीघ्र ही लगे जिनेश्वर-महिमा में !

राज-सभा में उचित समय पर किया सुशोभित सिंहासन;
पक्षपात से रहित न्याय कर किया प्रजा का मन-पावन !
अन्तर शासक औ' शासित का भुला प्रेम का पथ लीना;
कष्ट किये सब दूर प्रजा के घर-घर में मङ्गल कीना !

सदाचार, व्यवसाय, कला की शिक्षा का परिवाह बहा;
दूर हुए अपराध हेतु तो अपराधों का नाम कहाँ ?
सूर्योदय होने पर जैसे उल्लू खुद छिप जाते हैं;
अत्याचारी, व्यभिचारी जन ढूँढ़े नजर न आते हैं !

कौशल में सब ओर शान्ति का वैभव का सुवितान तना;
दिग्दिगन्त में नृप-यश फैला पूर्ण सत्य का राज्य बना !
धुन के पक्के कर्मठ मानव, जिस पथ पर बढ़ जाते हैं;
एक बार तो रौरव को भी स्वर्ग बना दिखलाते हैं !

इन्द्र-सभा

अखिल विश्व में सत्य ही एक मात्र है श्रेय,
होता सत्य-प्रतिज्ञ का त्रिभुवन में यश गेय।

स्वर्ग-लोक में इन्द्र देव की सभा लगी है अति महती;
नाना वेश-विभूषा-भूषित देवराज-राजित बृहती!
पारिजात की मालाएँ सब ओर मनोहर लटक रहीं;
मादक सुरभि-गन्ध से सारी सभा भूमि है महक रही।
रत्नों का आलोक समुज्ज्वल प्रभा-पुञ्ज सा फैला है;
प्रति विम्बित देवी-देवों का लगा भित्ति पर मेला है।
एक एक से बजते कोमल वाद्य-यन्त्र सुषमा-शाली;
कोकिल-कण्ठी सुर बालाएँ नाच रही हैं मतवाली।
कहा इन्द्र ने—"गान सदा ही विषय-भोग के होते हैं;
देव-देवियाँ वृथा अमोलक समय पाप में खोते हैं।
सर्वश्रेष्ठ है सत्य, आज बस गान इसी का होने दो;
मानस-पट से मलिन वासनाओं का कलिमल धोने दो।

आज्ञा पाकर सुर बालाएँ लगीं सत्य के गुण गाने;
गायन क्या था, स्वर-लहरी से लगीं सुधा ही बरसाने!

गीत

पूजा रोज रचालो मन में सत्य भगवान की;
पापी से भी पापियों को जिन्दगी हो शान की!

आगे को बढ़ा के पैर पीछे को हटाना क्या?
शूली हो, या फाँसी होवे, दिल धड़काना क्या?
प्राण भी दे रक्षा करनी अपनी जबान की!

सत्य के पुजारी होके फिर ललचाना क्या?
विश्व की विभूति आगे हाथ फैलाना क्या?
एक मात्र अभिलाषा सत्य के वरदान की!

कण्ठी और मालाओं से गर्दन तुड़ाना क्या?
भूखे-प्यासे रह रहकर तपसी कहाना क्या?
बाहर से लेना क्या, यहाँ परख ईमान की!

सत्य छोड़, नदी-नालों तीर्थों में मारा फिरा;
वासना का मेघ घन घोर चारों ओर घिरा;

मिथ्या-भ्रमण में फँस आत्मा हैरान की !

सत्य की चमक चाँद तेज सूर्य दिखलाता;

सत्य के प्रभाव से 'अमर' विश्व झुक जाता;

सत्य के सहारे धुरा जमीं आसमान की !

सत्य धर्म का गान श्रवण कर सभा हुई हर्षित सारी;
मुक्त कण्ठ से नर्तकियों की हुई प्रशंसा अति भारी।
आनन्दित हो देवराज भी लगे प्रेम से यों कहने;
मन्दर गिरि के स्वर्ण शृङ्ग से लगा शान्त निर्झर बहने !

"सत्य वस्तुत: अटल सत्य है, बड़ी सत्य की गरिमा है;
स्वर्ग लोक का यह वैभव भी मात्र सत्य की महिमा है।
यत्र तत्र सर्वत्र विश्व में जहाँ कहीं भी उन्नति है;
एक मात्र भगवान सत्य की करुणा की ही सद्गति है।
सत्य श्रवण की चीज नहीं है, वह तो जीवन में उतरे;
तभी वस्तुत: उपयोगी हो, जीवन अथ से इति सुधरे।
धन्य, धन्य वह जो कि सत्य की पूर्ण पालना करता है;
जागृत तो क्या स्वप्न जगत में भी न वञ्चना करता है।
स्वर्गलोक में सुर होकर भी नहीं सत्य पर हम चलते;
किन्तु भूमि पर हरिश्चन्द्र से नर न कभी प्रण से हिलते !
हरिश्चन्द्र की कृति, मति, वाणी नहीं सत्य से खाली है;

तिल में तेल, दुग्ध में घृत की व्याप्ति समझने वाली है।
हरिश्चन्द्र को सत्य-मार्ग से चलित कौन कर सकता है;
भला कभी भी चन्द्र उष्ण, या रवि शीतल बन सकता है?
आओ मिलकर सभी सत्य के गौरव की गाथा गाएँ;
हरिश्चन्द्र के चरणों में कर वन्दन पावन गति पाएँ!"

देवराज का कथन श्रवण कर सभी हुए सुर आनन्दित;
किन्तु, देवता एक कुटिलमति हुआ व्यर्थ ही उत्पीड़ित।

सज्जन औ' दुर्जन का अन्तर स्पष्ट शास्त्र यह कहता है;
'एक प्रशंसा सुन हर्षित हो, एक शोक में बहता है।'
प्राणों की आहुति देकर भी दुखिया का दुख दूर करें;
हानि देखकर पर की, सज्जन अपने मन में झूर मरें!
दुर्जन की क्या उलटी गति है हानि देखकर खुश होता;
हिम प्रस्तर ज्यों धान्य नष्ट कर खुद भी गल कर तन खोता।
हृदय कपट से, मुख दुर्वच से, नेत्र क्रोध से भरा हुआ;
रहता है दिन रात दुष्ट का अन्तर जीवन सड़ा हुआ!
वर्षा में सब वृक्षावलियाँ हरी भरी हो जाती हैं;
किन्तु जवासे की शाखाएँ नित्य सूखती जाती हैं।
हाँ, तो वह शठ देव भूप की सत्य प्रशंसा सुन करके;
बना राख अन्दर ही अन्दर अपने मन में जल करके।

"कैसा है यह इन्द्र ? अन्न के कीट मनुज का दास बना;
देवजाति से घृणा, अस्थि के पुतले से है स्नेह सना !
हरिश्चन्द्र का सत्य अटल है, फिर भी मानव, मानव है;
विचलित होते देर न लगती संकट में सब संभव है।
अभी अयोध्या नगरी जाकर हरिश्चन्द्र को देखूँगा;
पतित सत्य से कर, सुर पति को पल में लज्जित कर दूँगा !"

क्रुद्ध, क्षुब्ध हो जलता भुनता अपने मन्दिर में आया;
देख मुखाकृति विकट अप्सराओं का मन भी घबराया।

"नाथ, आज क्या कारण है ? हाँ, किस पर इतना कोप किया ?
घृणा हुई जीवन से किसको सुप्त सिंह जो छेड़ लिया।"

"आज सभा में प्राणवल्लभा तुम भी तो पहुँची होगी ?
हरिश्चन्द्र की महिमा भी तो सुरपति-विहित सुनी होगी ?"

"सुनी क्यों न ? हैं इन्द्र हमारे सत्य धर्म के अनुरागी;
स्वर्गलोक है, ऐसा स्वामी पाकर अति ही बड़ भागी !"

"तुम न समझती" "समझा दीजे, इसमें भी क्या दूषण है ?
जिस पर स्वामी क्रुद्ध हुए हैं, घटना बड़ी विलक्षण है !"

"आज इन्द्र ने देव जाति को किया भयंकर अपमानित;
अन्नकीट, फिर उसका इतना गौरव, यह कितना अनुचित !

देवलोक में सत्य नहीं है, मृत्यु लोक में सुन्दर है;
हरिश्चन्द्र को करें वन्दना देव, कठोर निरादर है!
आदि काल से हम देवों का मानव दास कहाया है;
किन्तु इन्द्र ने आज उसे ही कितना शीश चढ़ाया है ?"

"हरिश्चन्द्र तो सत्यमूर्ति है, नहीं मनुज वह साधारण;
देवों की सम्मान-हानि का, इसमें प्रभु है क्या कारण ?"

"बुद्धि भ्रष्ट हो तुम सब, तुम को पता नहीं है गौरव का;
आज इन्द्र की बातों में धिक्कार भरा है रौरव का !
हरिश्चन्द्र क्या देव बन गया आखिर अब भी मानव है;
अभी डिगाता हूँ मैं जाकर, कहाँ सत्य का ताण्डव है ?
और देव हैं मूर्ख नपुंसक, नहीं किसी में कुछ साहस;
पाते हैं दिन रात भर्त्सना तदपि न जगता भैरव रस !
किन्तु ज़रा भी जन्मभूमि का मैं अपमान न सह सकता;
हरिश्चन्द्र हो, या कोई हो क्षमा नहीं मैं कर सकता !'

पति की कुटिल वृत्ति से परिचित मौन हुई देवी सारी;
"नाथ, आपकी इच्छा पर है, आप स्वयं सन्मति धारी।"

"मेरे साथ तुम्हें भी वसुधा-मण्डल पर चलना होगा;
जैसे भी हो हरिश्चन्द्र को सत्य भ्रष्ट करना होगा !

भय से, छल से, उत्पीडन से, अथवा किसी प्रलोभन से;
हरिश्चन्द्र को डिगा, स्वर्ग की लाज रखो तन से, मन से !"

दीन अप्सरायें भी पति के साथ चलीं मन को मारे;
ऊपर से कुछ बोल न सकतीं, दिल में जलते अंगारे !

स्वार्थ सिद्धि हो, तदपि न सज्जन पाप-पंक में फँसता है;
साधारण जन स्वार्थ-पूर्ति के लिये विवश हो धँसता है !
पर, दुर्जन की कुछ मत पूछो, बिना प्रयोजन ही पापी;
पाप-गर्त में हँस-हँस गिरता, कैसा जीवन अभिशापी !

आज पाठको, सज्जन दुर्जन में संघर्षण छिड़ता है;
जरा ठहरिये, दृश्य देखिये, क्या परिणाम निकलता है ?

विश्वामित्र

ऋषिवर विश्वामित्रजी फँसे बीच में व्यर्थ;
अनुचित कोपावेश से होते क्या न अनर्थ ?

पुरी अयोध्या से किंचित-सा दूर विपिन में 'सिद्धाश्रम'
ऋषिवर विश्वामित्र साधना उग्र साधते इन्द्रिय-दम !
वातावरण शान्त है सुन्दर, शोभा अधिक निराली है;
मुनि-पालित तरुलता-वृन्द पर क्या मोहक हरियाली है !

अभिमानी वह देव अप्सरा-संग यहीं पर चल आया;
आम्र-वृक्ष के नीचे बैठा, मन में मत्सर-तम छाया !

"हरिश्चन्द्र को मैं किस विधि से सत्य धर्म से पतित करूँ ?
कैसे देवराज के मन को गर्व-कल्पना दलित करूँ ?
हरिश्चन्द्र-सा वर्चस्वी क्यों सुर-बाला से मोहित हो !
सन्तोषामृत पीने वाला नहीं प्रलोभन-वंचित हो।

अगर कष्ट दूँ, इन्द्र कुपित हो, बड़ी समस्या अड़ती है;
क्या कुछ करूँ, बुद्धि के पथ में समझ नहीं कुछ पड़ती है।"

आखिर चिन्तन करते-करते मार्ग एक स्मृति-पथ आया;
उदासीन मुख पर आशा का हर्षोन्माद झलक आया!

"ऋषिवर विश्वामित्र कोप के कारण हैं जग में विश्रुत;
हरिश्चन्द्र से इन्हें भिड़ा दूँ, काम बने कैसा अद्‌भुत?
फूल चुनें सुर बालायें, ऋषिराज क्रुद्ध हो जाएँगे;
बन्धन में डालेंगे देवी, भस्म नहीं कर पाएँगे!
हरिश्चन्द्र आकर बन्धन से मुक्ति दिला देगा ज्योंही;
ऋषिवर क्या है भूत भयंकर, चिपट जायगा झट त्योंही!"

लगा अप्सराओं से कहने—"चुनो फूल जा आश्रम में;
ध्वस्त बना दो पुष्प वाटिका, करो विलंब न विक्रम में!
विधि अनुकूल हुआ है कैसा अभो कार्य बन जाता है;
हरिश्चन्द्र औ' गाधितनय में द्वन्द्व युद्ध ठन जाता है।
विश्वामित्र-कोप से प्यारी जरा नहीं दिल में डरना;
जो कुछ भी दें दण्ड शान्ति के साथ सहन सब कुछ करना!
हरिश्चन्द्र तुम सब को आकर बन्धन-मुक्त बना देगा;
विश्वामित्र-कोप को पागल अपने शीश स्वयं लेगा।"

विश्वामित्र-कोप से परिचित डरीं अप्सराएँ मन में;
किन्तु क्रुद्ध पति की आज्ञा पा घुसी सशंकित-सी वन में!

पुष्प वाटिका से चुन-चुन कर फूल तोड़ती जाती हैं;
भ्रमर-वृन्द को मन्द हास्य के साथ उड़ाती जाती हैं!
पति की आज्ञा में तन चलता, किन्तु न मन है विश्वासी;
दुनिया की मक्कारी से है दिल में उथल-पुथल खासी!

गीत

यह दुनिया दुरङ्गी किधर जारही है?
पतन के गढ़े में गिरी जा रही है!
घृणा द्वेष का दौर चहुँ ओर छाया;
भलाई के बदले बुरा चाह रही है!
किसी को न सत्कर्म का ध्यान आता;
घटा पाप की ज़ोर से छा रही है!
बिछा जाल छल-छन्द का हंत कैसा;
सचाई उभरने नहीं पा रही है!
बड़ी मौज करते हैं दुर्जन 'अमर' अब;
विपत सज्जनों पै ग़ज़ब ढा रही है।

शास्त्राध्ययन-निरत शिष्यों ने देखा तो अति अकुलाये;
आश्रम का अपमान देख कर द्रुत गति से दौड़े आये!

"यह तुम क्या करती हो, आश्रम-मर्यादा का ध्यान नहीं;
पुष्प तोड़ने को न मिला क्या और कहीं भी स्थान नहीं ?"

"कैसा आश्रम ? कौन यहाँ तुम स्वत्व जमाने वाले हो ?
क्रीड़ा करती हैं स्वतन्त्र हम, कौन रोकने वाले हो ?"

"कौन आप, जो नहीं जानतीं इस आश्रम की गरिमाको;
मुनिवर विश्वामित्र महत्तम, जान रहे सब महिमा को !"

"होगा कोई, हमें पता क्या ? हटो, फूल हम तोड़ेंगीं;
पूजा-हित आराध्य देव की, पुष्पहार हम जोड़ेंगी !"

हँसी उड़ाने लगीं, विचारे शिष्य बड़े ही सकुचाये;
समाधिस्थ गुरुवर ढिंग जाकर जोर-जोर से चिल्लाये !

ध्यान खोल कर ऋषि ने ज्यों ही कथा सुनी अथ से सारी;
आये क्रुद्ध क्षुब्ध हो त्यों ही, उपवन-मध्य परशु-धारी !

क्रोधित होकर कहा अप्सराओं से—"यह क्या करती हो ?
सिद्धाश्रम की मर्यादा का कुछ भी मान न करती हो !
नहीं जानतीं, यह आश्रम है विश्वामित्र मुनीश्वर का;
आज कोप से जिसके कम्पित, बल-विक्रम संसृति-भर का !
अबला तुमको जान क्षमा करता हूँ शीघ्र चली जाओ;
व्यर्थ कोप में पड़ कर मेरे क्यों असीम संकट पाओ !"

एक बार तो देख क्षुब्ध मुनि, सभी अप्सरा घबराईं;
पति-आज्ञा-वश किन्तु दूसरे क्षण में ही सब गरमाईं !

"कौन आप हैं ? हमें रोकने वाले, बस चुप रहियेगा;
जो कुछ करना करें खुशी से, व्यर्थ न मुख से कहियेगा!
साधू होकर भी ममता का पाश नहीं मन से छूटा;
घर ही रहते तो अच्छा था मोह न उपवन का टूटा !
मुनि बन कर हम सुन्दरियों से क्या बातें करने आये;
जाओ, अपना काम करो, क्यों आते भी ना शरमाये ।"

रूप-माधुरी-मत्त अप्सरा मुनि को लज्जित करती हैं;
नाभि-विलम्बित श्वेत-कूर्चिका देख-देख कर हँसती हैं !

कौशिक ऋषि के क्रोधानल की ज्वाला बड़ी उग्र भड़की;
एक बार ज्यों गगनाङ्गण में शत-शत विद्युत हों कड़की !

तपस्तेज से देवयोनि के कारण भस्म न हो पाईं;
शाप-ध्वनि प्रगटी तब सहसा शान्त प्रकृति भी थर्राई !

"जिन हाथों से दुष्टाओ, यह तुमने उपवन नष्ट किया;
चारु वल्लरी, फूल और फल तोड़े आश्रम भ्रष्ट किया !
वे कुत्सित कर लतिकाओं में तप-प्रभाव से बँध जाएँ;
जीवन की अन्तिम घड़ियों तक बँधे-बँधे ही सड़ जाएँ !"

तपश्चरण की प्रबल शक्ति है, देव शक्ति भी अवनत हो;
तपोधनों का शाप और वरदान न निष्फल प्रतिहत हो !

दिव्य शक्ति-सम्पन्न अप्सराओं की तनिक न शक्ति चली;
कोमल कर-पल्लव बेलों से बँधे, गर्व-गरिमा निकली !

बन्धन-मोचन-हेतु उपक्रम किये अनेक, न सफल हुईं;
लगी तड़पने, हरिणी सम वे भयाक्रान्त हो विकल हुईं!

बद्ध देख कर गर्वमत्त ऋषि गर्जे उठे जैसे जलधर;
"देख लिया, मैं कौन? शक्ति क्या मेरी है जग-प्रलयङ्कर!
तुमने तो समझा था, क्या कर सकता है, यह भिखमंगा;
अब निज करणी का फल भुगतो व्यर्थ मचाया क्यों दंगा ?
बन्धन तो क्या दण्ड? तुम्हें मैं भस्म अभी कर सकता हूँ;
अबला किन्तु समझ, निज करुणा-भंग नहीं कर सकता हूँ।"

अबलाओं की क्रन्दन-ध्वनि पर तरस नहीं कुछ भी आया;
देख सफलता निज तप-बल की गर्व अमित मन में छाया!

राज-मुकुट, धन-कंचन तजना सहज, न कुछ भी जोर लगे;
'किन्तु मान-अपमान द्वन्द्व में त्याग-विराग तुरन्त भगे!

कोप और अभिमान उभय ने मुनिपद का शमरस लूटा;
अन्तर में चिररुद्ध राजसी-वृत्ति-स्रोत सहसा फूटा!

गर्जन तर्जन करते वापस लौट गये मुनि आश्रम में;
क्या समाधि फिर लगनी थी, फँस गये विकल्पों के भ्रम में!

बन्धन-मुक्ति

तप-बल से भी सत्य का बल है अपरंपार;
हरिश्चन्द्र के सत्य की अब सुनिए झनकार !

लक्षाधिक वर्षों का उज्ज्वल चित्र उपस्थित करता हूँ;
सत्यकीर्ति के द्वारा कलिमल दूर, मनः स्थित करता हूँ।
हरिश्चन्द्र नृप पुण्य-वंश से ऋषभदेव के वंशज हैं;
राजनीति के सद्गुण में भी उसी प्रभू के अंशज हैं।
राजा हैं, पर किसी तरह का व्यसन नहीं है जीवन में;
भूल गए हैं अन्य वृत्तियाँ सत्य-वृत्ति के पालन में।
वह भी था क्या समय प्रजा का हित राजा नित करते थे;
स्वयं कष्ट सहते थे, लेकिन दुःख प्रजा का हरते थे।
राज्य-कार्य से जब भी पाते समय भ्रमण को चल देते;
दीन दुखी से मिलते, आँखों दशा प्रजा की लख लेते।
गर्व-शून्य करुणानिधि नृप के प्रजा सरल दर्शन पाकर;
हर्षित होती, गर्वित होती, नभ गुंजाती 'जय' गाकर।

सत्य हरिश्चन्द्र

आज कलियुगी भूप सत्य की दुनिया का सत्पथ भूले;
उदासीन गत आदर्शों से विषय-वासना में भूले।
न्यायालय में दमन चक्र का राज्य निरन्तर चलता है;
नित नव शोषण द्वारा वैभव पाकर चित्त मचलता है।
दफ्तर की दुनिया है, कागज़ कलम घिसाये जाते हैं;
अन्धकार बढ़ता जाता है, पग-पग ठोकर खाते हैं।
रंग महल में सुरा सुन्दरी का चहुँ दिशि फैला विभ्रम;
सूर्य-चन्द्र से गुरुवंशों का होता क्षय प्रतिपल विक्रम।
आज भ्रमण है निरपराध पशु-पक्षी-गण की हत्या का;
क्षण भर की मन मौज़, अमंगल रूप धरा है कृत्या का।
मोटर, यान, पवन की गति से इधर-उधर दौड़े फिरते;
दीन प्रजा के बालक-बूढ़े प्रतिदिन कितने दब मरते।
अगर आज भारत के राजा उसी पुरातन पथ चलते;
मातृभूमि को नहीं देखने, ये दुर्भर दुर्दिन मिलते।

अलं, चल पड़े किस तम-पथ पर, हरिश्चन्द्र की ओर चलो;
पाकर अमित प्रकाश सत्य का दुराचरण को दलो-मलो।

राज्यकार्य से निबट, नित्य की भाँति, भूप पुर से निकले;
वन-यात्रा के लिए अश्व पै चढ़ लहरों के सम उछले।

वन में बद्ध अप्सराओं का पति सेवक का रूप धरे;
आकर मिला नृपति से फलतः सिद्धाश्रम की ओर ढरे।

बद्ध अप्सराओं ने ज्योंही सुना दूर से जय-जय कार;
देखा ध्वनि-पथ ओर शीघ्र ही भयकातर निज आंख पसार।
मानव-गण-परिवेष्टित अश्वारोही नयनों में आया;
हरिश्चंन्द्र के दर्शन पाकर मोद अमित मन में पाया।

"पाप वृत्ति के पड़ी फेर में, किन्तु भाग्य-रेखा जागी;
इसी बहाने हरिश्चन्द्र के दर्शन पाए बड़ भागी।
संभव है, इस ओर न आएँ, कहीं और ही टल जाएँ;
बस, फिर हम तो तीन काल में बन्धन-मुक्त न हो पाएँ!"

सभी अप्सरा दीन-भाव से लगीं विकल रोदन करने;
रोदन सुनते ही नृप-मन में बहे दया के शत झरने।

आज्ञा पाते ही सेवक जन पता लगा झटपट आएँ;
"सिद्धाश्रम में चार षोडशी लताबद्ध मन कलपाएँ।"

तत्क्षण आश्रम में चल आए, लगे देवियों से कहने;
"किस कारण, कब, किसने बाँधा, पड़े घोर संकट सहने।"

"नाथ! अप्सरा हम उपवन में क्रीड़ा करने आई थीं;
पुष्प-सुगन्धित तोड़ लिए, कुछ मन में नहीं बुराई थी।
इतना-सा अपराध, और यह दण्ड भयंकर लख लीजे;
विश्वामित्र क्रोध के बडवानल हैं, दोष किसे दीजे?"

"ऋषि-आश्रम में तुम्हें उपद्रव कभी न करना चाहिए था;
क्या गौरव है तपोधनों का, तुम्हें समझना चाहिए था।

तुमने गुरु अपराध किया है, किन्तु दण्ड उससे गुरु-तर;
मुनिजन तो अपराधी पर भी रहते हैं करुणा-मृदु-तर।"

"हाथ जोड़ कर श्री चरणों में विनय, प्रभो! करुणा कीजे;
जीवन-भर गुण गाएँगी हम, मुक्त पाश से कर दीजे।"

"अभी छुड़ा देता हूँ तुमको, मन में खेद न करिएगा;
पर, भविष्य में कभी किसी आश्रम में विघ्न न करिएगा।"

"आज आपके सम्मुख दिन-कर-साक्षी से प्रण करती हैं;
भंग न होगा आश्रम गौरव, उत्पीडन से डरती हैं।"

हरिश्चन्द्र ने सत्य स्मरण कर हाथ लगाया जैसे ही;
मुक्त अप्सरा सभी होगई, पलक मारते वैसे ही।
गगनाङ्गण में उड़ीं अप्सरा हर्षमत्त 'जय-रव' करतीं;
हरिश्चन्द्र पर चारु सुगन्धित फूलों की वर्षा करतीं।

गीत

लग गई, लग गई, लग गई हो; —
प्रीति लग गई आज सत्य से!

पूर्व-पुण्य से शुभ दिन आया;
सत्य-मूर्ति का दर्शन पाया;
दिल की कलियां खिल गई हो!

सच का बल है अपरं-पारा,
ऋषि के तप का बल भी हारा;
शाप की बेड़ी कट गई हो!

सत्य हरिश्चन्द्र

पर - दुख - भंजन पर–उपकारी;
अतिमानव, करुणा - अवतारी;
प्रेम की दुनिया बस गई हो!
कैसा है सुन्दर मुख–मण्डल;
झलक रहा है तेज अचंचल;
पाप-वृत्तियाँ डर गई हो!
'अमर' सत्य पर अचल रहेंगे;
निश्चित है पति विफल रहेंगे;
सत्य की झांकी मिल गई हो!

पाठक, कलियुग की बातों का लक्ष्य न मन में अणु लाएँ;
पूर्व युगों के महासत्य की ओर दृष्टि को दौड़ाएँ।
कितनी महिमा प्रबल सत्य की, तप-बल भी निःशक्त हुआ;
आज पराजित एक गृही के आगे एक विरक्त हुआ।
तप जितना मुनि चाहे कर ले, किन्तु क्रोध यदि शान्त न हो;
उससे गृही प्रशंसित है, जो तन-मन सत्यपरायण हो!
हरिश्चन्द्र कर भ्रमण कर लौट फिर अपने महलों में आए;
वन-घटना को भूल गए थे, लक्ष्य नहीं मन में लाए!

विश्वामित्र का कोप

क्रोध भयंकर शत्रु है, करता जीवन नष्ट;
धर्म, कर्म, तप, योग से मानव होता भ्रष्ट !

कौशिक-ऋषि आश्रम-कुटीर में ध्यान समाधि लगाते हैं:
किन्तु कोप से कम्पित चंचल चित्त न वश कर पाते हैं।
रह-रह कर वह दृश्य क्लेश का चक्कर काट रहा मन में:
कोपानल की ज्वालाओं का दाह दहकता है तन में।
दीप-शलाका-तुल्य क्रोध है, नहीं शान्ति रह पाती है;
औरों को जब भस्म करे तो स्वयं भस्म होजाती है।

मुनिवर सोच रहे थे—"मेरा कैसा है दुर्दम तप-बल;
पल-भर में ही बँधी अप्सरा, भूल गई दैवी छल बल !
त्रिभुवन में अब कोई भी जन मुक्त नहीं कर सकता है:
कर सकता है, मुक्त अगर तो कौशिक ही कर सकता है।

इनके पति अब दीन दुखी-से अनुनय करने आएँगे;
श्री चरणों की धूलि चाट निज पत्नी मुक्त कराएँगे।"

कौशिक ऋषि यों मनः-कल्पना-नभ में उड़ते जाते हैं;
इतने में आ शिष्य, कल्पनाओं पर वज्र गिराते हैं।

"भगवन्! बद्ध देवियाँ, होकर मुक्त स्वर्ग को चली गईं"
सुनते ही कौशिक मुनि की भी बुद्धि-चेतना दली गई।

"विस्मय है अति ही विस्मय है, मुक्त...अरे, क्या सत्य कहा?
क्या मेरे तप में इतना भी आज नहीं सामर्थ्य रहा!
यदि ऐसा होता तो पहले बन्धन में बँधती ही क्यों?
एक बार जब बद्ध हुईं तो पुनः स्वयं छुटती ही क्यों?
अरे, कहो क्या स्वयं पापिनी मेरे बन्धन से छूटी
अथवा कोई अन्य विमोचक है, जिसकी किस्मत फूटी।"

"आप बाँध कर आए, उसके कुछ ही देर बाद राजा—
हरिश्चन्द्र जी आए, लेने स्वच्छ हवा वन की ताजा।
कौशल-पति को देख पुकारी, दयामूर्ति झट-पट आए;
हाथ लगाते ही बन्धन के ढूँढे चिन्ह नहीं पाए।"

शिष्यों की सुन बात क्रोध का सागर दुगुना लहराया;
क्षुब्ध हृदय में कुविचारों का अतिभीषण अंधड़ आया।

गीत

आज ज़ालिम नास्तिकों से भर गया संसार क्या?
पाप-मल का सब के मन पै छा गया अँधकार क्या?
आश्रमों का नष्ट होता जा रहा गौरव सभी;
भूल बैठे क्रुद्ध ऋषियों की विकट हुँकार क्या?
यह हरीचँद दास चरणों का, बिगड़ कैसे गया?
मुझको, मेरे तप को भूला क्यों? हुआ कुविचार क्या?
मैं वह कौशिक हूँ कि जिसका विश्व पर आतंक है;
मेरे आगे मान्य ऋषियों ने न पाई हार क्या?
आके करुणा के नशे में अप्सराएँ खोल दीं;
मैं तो ज़ालिम नीच, निर्दय, तू दया भंडार क्या?
चूर्ण कर दूँ गर न तेरा गर्व तो धिक है 'अमर'
मैं हूँ विश्वामित्र तूने समझा है मुर्दार क्या?

रहे भड़कते सारी रजनी, नहीं तनिक निद्रा आई;
"कब प्रभात हो, चलूँ सभामें, करूँ भर्त्सना मन-भाई।"

पाठक! क्रोध-क्षमा का, करुणा-हिंसा का अन्तर देखा;
ऋषि होकर भी नहीं पा रहे अणु भर भी समता-रेखा।
बाँधा क्या सुर बालाओं को स्वयं आप ही बँध बैठे;
जब से बाँधा है तब से ही चिन्ता के सागर पैठे।

उधर सत्य के धनी, कौशलाधीश शान्त करुणा-सागर;
मुक्त किया तो मुक्त-हृदय हैं, नहीं अशान्ति उन्हें तिलभर !
वह उपकार, दृष्टि में उनकी, क्या महत्त्व कुछ रखता था ?
भूल गए वह दृश्य, रात्रि-भर सोये मन न भटकता था !

सज्जन कर उपकार किसी पर नहीं याद मन में लाते;
मात्र निमित्त समझते खुद को भाग्य उसीका बतलाते।
वही श्रेष्ठ है मूक भलाई, जिसमें गर्व नहीं होता;
अहंकार से मलिन धर्म तो बीज पाप का ही बोता !

वन में, पुर में, एक साथ ही सुप्रभात विकसित आया;
किन्तु घोर वैषम्य उभयतः, कैसी है विधि की माया !

———

न्यायालय में

जीवन में कर्तव्य का जो रखता है ध्यान;
वह गौरव है विश्व का, पाता जग-सम्मान !

भूपति निज नियमानुसार सब नित्य कर्म से निबट गए;
सूर्योदय होते ही न्यायासन पर आ आसीन हुए।
ठीक समय पर अधिकारी भी निज-निज आसन पर आए;
नृप यदि कर्मठ न्याय-निरत हो, फिर क्या गड़बड़ हो पाए।
न्यायासन पर बैठ न्याय करने में वे संलग्न हुए;
योगी-जैसे योग-साधना के साधन में मग्न हुए !

न्याय, योग दोनों ही मन को साम्य-रूप अपनाते हैं;
चञ्चल मन होने पर दोनों कार्य नष्ट हो जाते हैं।
योगी जैसे प्राणिमात्र को अपने तुल्य समझता है;
शासक भी पर के सुख-दुख का भान हृदय में करता है।

एक-एक अभियोग प्रजा का बड़ी शान्ति से निबटाते;
वादी-प्रतिवादी दोनों ही खुश हो जय-मंगल गाते।
अपराधी तक सुप्रसन्न है, स-क्षति दण्डित होकर भी;
राजा के प्रति खेद नहीं है, अपनी इज्जत खो कर भी।
शासक नृप जब हृदय पिता का बना नियंत्रण करता है;
उभय पक्ष के स्वच्छ हृदय में प्रेम हिलोरें भरता है।

हाँ, तो इधर न्याय का शासन, उधर विपिन में भी चलिए;
सूर्योदय होते ही कौशिक चले शिष्य-गण साथ लिए।

पुरी अयोध्या का घण्टा पथ, आज अतीव विकम्पित है;
आस-पास दर्शक जनता का मन भी अति ही चिन्तित है।
एक विकट तूफ़ान उठा-सा आता है, मुनिवर क्या है?
होंठ कँपाते, दाँत पीसते हुए स्वयं, यम भी क्या है?
देख क्रुद्ध कौशिक को आकुल, व्याकुल हैं सब नरनारी;
कौन काल के गाल पड़ा है, किस पर वक्र दृष्टि डारी।

एक देव हैं मानव, जिनके मिलने से सब प्रमुदित हों;
एक रुद्र दानव हैं मानव, देख जिन्हें सब दुःखित हों।
सज्जन-दुर्जन दोनों जग में भिन्न प्रकृति के हैं स्वामी;
एक जलज है कमल, एक है जौंक रक्त का अनुगामी।

सर्प और दुमुही दोनों ही एक जाति के प्राणी हैं;
किन्तु प्रकृति में महदन्तर है, सभी जानते ज्ञानी हैं।

सर्प क्रुद्ध हो डस लेता है, प्राणों का होता ग्राहक;
अतः सभी जन देख भयाकुल होकर बन जाते मारक!
किन्तु शान्त है दुमुही कैसी, नहीं किसी को कुछ कहती;
खुश होते हैं घर वाले सब, जिनके घर में आ रहती!
मंगल शकुन समझ कर पूजा करते देखे नर नारी;
उधर सर्प की दुर्गति भी देखी है, निर्दय दुख भारी।
कोई पाता तिरस्कार तो कोई पाता आदर है;
दोष नहीं है अन्य किसी का स्वयं प्रकृति पर निर्भर है।

न्याय-सभा के द्वार-देश पर द्वार-पाल से बतलाए;
अपने मन के भाव क्रोध की भाषा में ही समझाए।

द्वार-पाल ने अन्दर जाकर कहा नृपति से—"हे प्रभुवर!
खड़े द्वार पर कौशिक ऋषिवर न्याय कराने की खातिर!"

राजा स्तम्भित! विस्मित!! "ऋषि क्या न्याय कराने आए हैं;
ऋषियों को तो न्यायालय के द्वार निषिद्ध बताए हैं!
मेरे योग्य कार्य था यदि तो मुझे वहीं बुलवा लेते;
स्वयं सभा में आते ऋषिवर कभी नहीं शोभा देते!"
द्वार-पाल से कहा—"प्रतिष्ठा पूर्वक उनको ले आओ;
सन्त किसी भी धर्म-वेष के हों सब की महिमा गाओ।"

कौशिक ज्यों ही न्यायालय में मस्त झूमते से आए;
सभा-सहित नृप खड़े हुए, नत-मस्तक सादर गुण गाए।

सिंहासन से लगे उतरने तो कौशिक कर्कश बोले;
धधक रहे थे लगे बरसने वचन रूप बम के गोले!

"राजन्! रहने दें यह आदर, सिंहासन पर ही ठहरें;
नमक डाल कर व्यर्थ जख्म पर, उठा रहे दुख की लहरें!
पूजा, आदर की अभिलाषा लिए नहीं मैं आया हूँ;
राजा तुम हो, न्यायासन से न्याय माँगने आया हूँ!"

क्रोध-गर्जना सुन कौशिक की सभी लोग भयभीत हुए;
किन्तु सत्य के धनी नृपति तो अति निर्भय अति स्फीत हुए।

गीत

बताएँ शान्ति-सदन ऋषि राज!
क्रोध का क्या कारण है आज?

मुझ से न्याय कराने आए,
कुछ भी नहीं समझ में आए;
राज से क्या ऋषियों का काज!

आज्ञा होती मैं खुद आता,
जो कुछ होता हुक्म बजाता;
आप हैं हम सब के सरताज!

ऋषिवर होते समता-धारी,
बहता करुणा-निर्झर भारी;
आप हैं किस पर क्यों नाराज!

न्याय औ' क्रोध मेल नहिं खाते,
क्रोध से झूठे माने जाते;
सूत्र यह शासन का महाराज!
शान्ति से बैठें, यह है आसन,
कीजे ऋषि - मर्यादा पालन;
भूमि पर खड़े, हमें है लाज!
राजा सभी प्रजा का होता,
कुछ भी पक्षपात ना होता;
न्याय यहाँ पाता शुद्ध, समाज!

जहाँ सत्य का तेज वहाँ पर त्रास नहीं कुछ भी होता;
दुर्बल पापात्मा ही भय का दृश्य देखकर है रोता।

देख नृपति की मुख-मुद्रा अतिशान्त मनोरम तेजोमय;
चकित रह गए कौशिक ऋषिवर, बनी मुखाकृति लज्जामय।

मन में पश्चात्ताप उठा—"मैं क्यों न्यायालय में आया;
तप-बल द्वारा आश्रम से ही क्यों न बिछादी निज माया।
अब तो मैं ही खुद आया हूँ न्याय-प्राप्ति का पथ लेकर;
शासन के सब नियम पालने होंगे, अस्तु मुझे कटु-तर!
मैंने सोचा था जाते ही क्रोध दिखाकर भूपति को;
त्रस्त करूँगा, चरण गिरा कर दूर करूँगा दुर्मति को!
किन्तु यहाँ तो मन की सोची बिखर गई सारी कड़ियाँ;
जीवन में यह प्रथम बार देखी अप-गौरव की घड़ियाँ।"

आदर्श-संवाद

नृपति-दत्त आसन मिला, बैठे ऋषि मन मार;
न्याय-हेतु फिर यों वहाँ, होने लगा विचार !

"महाराज ! क्या न्याय चाहते ? सेवक को आज्ञा कीजे;
उर की उलझी हुई पहेली, स्पष्टतया बतला दीजे।"

"जिस घटना का न्याय चाहिए, कितना भीषण है वह पाप;
मुझ से पूछ रहा है, क्या तू नहीं जानता अपने-आप ?"

"शान्त रहें भगवन् ! करुणानिधि ! यहाँ क्रोध का काम नहीं'
जान बूझ कर व्यर्थ पूछने वाला मैं अघ-धाम नहीं !
अगर जानता मैं होता तो आप यहाँ फिर क्यों आते ?
मैं ही स्वयं उपस्थित होता राष्ट्र-नियंता के नाते।"

नृप, जिस तरह राज्य-शासन में सब अधिकार तुम्हारा है;
उसी तरह आश्रम-शासन में सब कुछ सत्त्व हमारा है।

न्याय औ' क्रोध मेल नहिं खाते,
क्रोध से झूठे माने जाते;
सूत्र यह शासन का महाराज!
शान्ति से बैठें, यह है आसन,
कीजे ऋषि - मर्यादा पालन;
भूमि पर खड़े, हमें है लाज!
राजा सभी प्रजा का होता,
कुछ भी पक्षपात ना होता;
न्याय यहाँ पाता शुद्ध, समाज!

जहाँ सत्य का तेज वहाँ पर त्रास नहीं कुछ भी होता;
दुर्बल पापात्मा ही भय का दृश्य देखकर है रोता।

देख नृपति की मुख-मुद्रा अतिशान्त मनोरम तेजोमय;
चकित रह गए कौशिक ऋषिवर, बनी मुखाकृति लज्जामय।

मन में पश्चात्ताप उठा—"मैं क्यों न्यायालय में आया;
तप-बल द्वारा आश्रम से ही क्यों न बिछादी निज माया।
अब तो मैं ही खुद आया हूँ न्याय-प्राप्ति का पथ लेकर;
शासन के सब नियम पालने होंगे, अस्तु मुझे कटु-तर!
मैंने सोचा था जाते ही क्रोध दिखाकर भूपति को;
त्रस्त करूँगा, चरण गिरा कर दूर करूँगा दुर्मति को!
किन्तु यहाँ तो मन की सोची बिखर गईं सारी कड़ियाँ;
जीवन में यह प्रथम बार देखी अप-गौरव की घड़ियाँ।"

आदर्श-संवाद

नृपति-दत्त आसन मिला, बैठे ऋषि मन मार;
न्याय-हेतु फिर यों वहाँ, होने लगा विचार !

"महाराज ! क्या न्याय चाहते ? सेवक को आज्ञा कीजे;
उर की उलझी हुई पहेली, स्पष्टतया बतला दीजे।"

'जिस घटना का न्याय चाहिए, कितना भीषण है वह पाप;
मुझ से पूछ रहा है, क्या तू नहीं जानता अपने-आप ?"

"शान्त रहें भगवन् ! करुणानिधि ! यहाँ क्रोध का काम नहीं'
जान बूझ कर व्यर्थ पूछने वाला मैं अघ-धाम नहीं !
अगर जानता मैं होता तो आप यहाँ फिर क्यों आते ?
मैं ही स्वयं उपस्थित होता राष्ट्र-नियंता के नाते।"

नृप, जिस तरह राज्य-शासन में सब अधिकार तुम्हारा है;
उसी तरह आश्रम-शासन में सब कुछ सत्त्व हमारा है।

जिस प्रकार नृप, आप राज्य के दोषी को दण्डित करते;
उसी तरह हम भी आश्रम के दोषी को शिक्षित करते।"

"क्षमा करें, यह बात आपकी मान्य नहीं हो सकती है;
आश्रम भी कौशल में, इससे किसे विमति हो सकती है।
आश्रम का अपराधी भी है, अतः राज्य का ही द्रोही;
आप न उसे दण्ड दे सकते, राज्य दण्ड है सबको ही।"

"क्या कहता है, हम ऋषियों को नृप के आश्रित रहना है;
आश्रम का अपराध करे, हम दण्ड न दें, क्या कहना है?"
सत्य कहा है मैंने भगवन्! इसमें कुछ अविचार नहीं;
आप साधु हैं, अतः दण्ड देने का है अधिकार नहीं।"

"भ्रष्ट-बुद्धि है तेरी, तुझ को ऋषि-गौरव का ध्यान नहीं;
याद रहे, हम सन्त तनिक भी सह सकते अपमान नहीं।
जब कि भूप ऋषिकृत नियमों से राज-दण्ड दे सकते हैं;
तब हम आश्रम अपराधी की ख़बर क्यों न ले सकते हैं?"

"व्यर्थ क्रोध मत करिए भगवन! मैंने क्या अपमान किया;
विहित विधानों का ही मैंने न्यायोचित व्याख्यान किया।
दण्डविधाता भूपति है, अथवा भूपति के अधिकारी;
और नहीं कोई हो सकता, शास्त्र-नियम है हितकारी।"

"अच्छा, सिद्धाश्रम उपवन को ध्वस्त अप्सरा करतीं थीं;
वृक्ष-लता, फल-फूल तोड़तीं, हँसतीं, और अकड़ती थीं।

बाँधी मैंने पुष्पलता के बन्धन में निज तप-बल से;
किन्तु एक प्रति द्वन्द्वी रिपु ने खोली गुप्त रूप छल से।
स्पष्ट कहो, जो नर आश्रम का दोषी यों बन जाएगा;
दण्ड-व्यवस्था के नियमों से कौन दण्ड वह पाएगा ?"

अखिल काण्ड ऋषि के कहने से भूपति की स्मृति में आया;
किन्तु वीतभय, सस्मित मुख से कौशिक से यों बतलाया।

"भगवन् ! वह तो श्रीचरणों में यह सेवक समुपस्थित है;
दण्ड घोर से घोर दीजिए, जो भी उचित अभीप्सित है।
उन्हें दया से मैंने छोड़ीं, और न कुछ भी मतलब था;
प्रतिद्वन्द्वी बन, व्यर्थ अवज्ञा का दुर्भाव कहाँ कब था ?
यदि कोई अधिकार बिना बन्दी को बन्धन में डाले;
तो बन्दी कर मुक्त शीघ्र ही भूपति निज शासन पाले।
बन्दी करने वाले को भी उचित दण्ड नृप देता है;
हरिश्चन्द्र तो केवल बन्दी छोड़, क्षमा कर देता है।
वादी हैं ऋषि आप, और मैं प्रतिवादी हूँ, क्या झंझट ?
न्याय करालें पंचों से, मिट जायँ व्यर्थ की सब खटपट !"

हरिश्चन्द्र का उत्तर सुन कर कौशिक ऋषि कुछ घबराए;
मानस-नभ में उमड़ विकल्पों-संकल्पों के घन छाए।

"मैंने तो सोचा था नृप को दण्ड स्वयं उसके मुख से—
दिलवाऊँगा, बात-चीत के चक्कर में लाकर सुख से।

पर यह तो मुझको ही उलटा अपराधी ठहराता है:
'दिया न दण्ड' इसी में अपनी कृपा विशाल बताता है।
राजा का है पक्ष प्रबल, सब न्यायोचित इसका कहना;
अगर सभा में करूँ मान्य तो पड़े घोर अपयश सहना।
दण्ड-वण्ड तो गया, मात्र अपराध अगर स्वीकृत करले;
कौशिक तो बस इतने भर से अपने दिल के व्रण भरले।"

विश्वामित्र गर्ज कर बोले, काँप उठा परिषद्-मण्डल;
भीति-त्रस्त जनता के मन में मची भयंकर उथल-पुथल।

"अरे, नीच! अज्ञान! समझले, तू अपराधी है मेरा;
बन्धन-मुक्त अप्सरा कर दीं, क्या अधिकार बता तेरा?
दोष न अपना माना, उलटा मुझ पर ही दोषारोपण;
दूषित है अज्ञान-दोष से तेरे जीवन का कण-कण।
हम ऋषियों की बातों में भी व्यर्थ टाँग उलझाता है,
मोह-ग्रस्त हो आश्रम में भी निज अधिकार बताता है।
सूर्य-वंश के सिंहासन पर तुझे बैठना योग्य नहीं;
राज्य-भार दे अन्य किसी को भोग भाग्य के क्लेश कहीं?'

"भगवन्! आप सन्त हैं मन में जो भी आए वह कहिए;
किन्तु भूप है दोषी केवल इसी भ्रान्ति में मत रहिए।
मैंने तो कर्तव्य दया-वश दुखियों का दुख दूर किया;
आप बताएँ, और अप्सराओं से क्या कुछ स्वार्थ लिया?

क्या करुणा का मंगल-पथ है अपराधों की गणना में ?
क्या सुनता हूँ, समझ न सकता, फँसे आप किस भ्रमणा में ?
अगर वस्तुतः दोषी होता, भला अप्सरा क्यों छुटतीं ?
तप-बल द्वारा बँधी-बँधी ही जीवन भर दुख में घुटतीं।
जब कि दोष ही नहीं, प्रश्न फिर स्वीकृति का कैसे आता ?
व्यर्थ करूँ 'हाँ' खुश करने को ढँग न यह मुझको भाता।
हाँ, अपराध सिद्ध यदि कर दें, पल-भर में स्वीकृत होगा;
उचित दण्ड के लिए सर्वथा यह मस्तक अवनत होगा।
पंचों-द्वारा निर्णय झट-पट क्यों न करालें झगड़े का;
जो वे कहदें शिर-माथे पर, काम नहीं कुछ रगड़े का।
अगर बतादें मुझ को दोषी, राज-सिंहासन तज दूँगा;
योग्य व्यक्ति को कर अर्पण मैं सीधा वन का पथ लूँगा।"

दुराग्रही जन सदा सर्वथा अपने ही हठ पर अड़ते;
न्याय और अन्याय भुलाकर निन्द्य कदाग्रह पर लड़ते!
कौशिक जी भी फँसे व्यर्थ ही ऋषि-गौरव की दल-दल में;
सम्मानित होने के पथ को खोज रहे हैं छल-बल में।

"राजा को यदि दण्ड न दूँ तो मम अपमान भयंकर है;
गौरव-गिरि हो जाए मेरा चूर-चूर फिर कंकर है।
मध्यस्थों से निर्णय का पथ नहीं भूल कर भी लूँगा;
मुझ को दोषी बतलाएँगे, फिर कैसे मैं पलटूँगा ?

अस्तु, दूसरा पथ अपना कर, इसको बाध्य बना डालूँ;
येन-केन रूपेण बात मैं अपनी साग्रह मनवा लूँ !"

अन्तर में रख कपट-कल्पना बाहर सस्मित मुख बोले:
"राजधर्म के पालन हित सुर-बाला के बन्धन खोले ?"

"हाँ भगवन् ! बस किया वस्तुतः राज-धर्म का ही पालन;
अन्य न कोई गुप्त ध्येय था, करुणावश खोले बन्धन ॥"

"राजधर्म का पालन केवल इसी बात में होता है ?
अथवा अन्य दिशा में भी कुछ उसका पालन होता है ?"

"हाँ अवश्य, सर्वत्र-सर्वविधि राज-धर्म का पालन है;
यदि छोड़ूँ कर्तव्य एक भी, फिर कैसा नृप-जीवन है ?"

"पता तुम्हें है ? राज धर्म में दान-धर्म कितना सुन्दर ?
नृप-सम्मुख की गई याचना, व्यर्थ न जाती है अणु भर !"

"क्या कहते हैं पता ? पता तो सपने तक में रखता हूँ;
यथा समय पालन करने का भी मैं दृढ़ बल रखता हूँ।"

"अच्छा हम याचक हैं, पूरी माँग हमारी करिएगा।"
"हाँ-हाँ, कहिए जो अभीष्ट हो, अच्छी तरह परखिएगा !"

"माँग रहा हूँ अखिल भूमि का राज्य और वैभव सारा;
कहिए देते हैं कि नहीं ? यह माँग बड़ी असि की धारा !"

हरिश्चन्द्र के मुख-मण्डल पर एक नहीं सलवट आई;
पुण्डरीक-से विकसित मुख से सस्मित वाणी सुन पाई।

"माँग विकट क्या ? तुच्छ राज्य है, अभी समर्पण करता हूँ;
तन माँगें तो इसको भी मैं, देने का दम रखता हूँ।"

हरिश्चन्द्र ने आज्ञा दी, प्रिय सेवक था आज्ञा-कारी;
मिट्टी का लघु पिण्ड उपस्थित किया और जल की झारी।

—— × ——

राज्य-दान

हरिश्चन्द्र का देखिये, साहस प्रबल महान;
कौशल से साम्राज्य का पल में करते दान।

मानव-जग में वीर पुरुष ही नाम अमर कर जाते हैं;
कायर नर तो जीवन भर बस रो रो कर मर जाते हैं।
वीर पुरुष ही रण में तलवारों के जौहर दिखलाते;
मातृ-भूमि की रक्षा के हित जीवन-भेंट चढ़ा जाते!
वीर पुरुष ही उग्र घोर तप करते हैं अविचल, निश्छल;
चूर-चूर कर देते, गुरुतर चिर-संचित कर्मों के दल।
वीर पुरुष ही मुक्त हस्त से करते हैं सर्वस का दान;
दीन-दुखी के लिये सर्वदा प्रस्तुत हैं तरु-कल्प-समान।
जिस धन के हित पुत्र, पिता, पत्नी तक भी नर तज देते;
वह धन, दानी-वीर पलक में रज-कण तुल्य लुटा देते।

वह कायर क्या देंगे जो मरते हों कौड़ी-कौड़ी पर;
खाते-देते देख अन्य को, जो कँपते हों थर ! थर ! थर !

वीर शिरोमणि हरिश्चन्द्र ने चमत्कार दिखला दीना;
राज्य दान के लिये मृत्तिका-पिण्ड तुरत मँगवा लीना ।

विश्वामित्र सोचते मन में—"साहस बड़ा विलक्षण है;
कौशल-सा साम्राज्य त्यागते तनिक न चिन्ता का कण है।
मैंने तो समझा था डर कर चरणों शीष झुका देगा;
स्वीकृत कर निज दोष क्षमा के लिये हाथ फैला देगा।
किन्तु भूप अतिदम्भी है, दृढ़ अहंकार का भूत चढ़ा;
विनय, नम्रता, सज्जनता का नहीं ज़रा भी पाठ पढ़ा।
देखूँगा यह दंभ और अभिमान कहाँ तक चलता है ?
कौशिक को भी धूर्तराज बन कौन कहाँ तक छलता है ?"

दुराग्रही जन सद्गुण में भी लखता है दुर्गुण केवल;
दैन्य विनय को, दृढ़ता को मद, सज्जनता को कहता छल !
हाँ, तो कर में भूमि-पिण्ड ले कहा नृपति ने ऋषिवर से-
"अब क्या देर, राज्य लीजिए, ताकि भार उतरे सिर से।"

"राजन् ! सोच समझलें मन में, राज्य-दान करने के बाद;
क्या कुछ बच पायेगा, हठ कर होता है क्यों तू बर्बाद ?"

"बुरे कार्य में यदि देता तो करता फिर कुछ सोच विचार;
दान दे रहा, वह भी ऋषि को, फिर क्या है अविचार-प्रचार ?

धन-वैभव को त्याग कभी मैं हो सकता बर्बाद नहीं;
हठ न, सत्य है इसके होते हो सकता परिवाद नहीं !"

भूमि-पिण्ड को कर में ले दानार्थ हुए प्रस्तुत ज्यों ही;
मंत्री और सभासद नृप के सम्मुख हुए खड़े त्यों ही।

"महाराज ! क्या करते हैं ? इस भाँति कहीं भी होता है ?
परम्परागत सिंहासन को, क्या कोई यों खोता है ?
कौशिक जैसे क्रोधी ऋषि के हाथों क्या दुर्गति होगी ?
प्रजा तड़प कर मर जाएगी, यह भी तो दुष्कृति होगी ?
मामूली-सा प्रश्न नहीं है, राज्य-दान का कण्टक-मग;
सोच-समझ कर चलिए, सहसा करने से हँसता है जग !'

"आप मौन ही रहें, व्यर्थ मत बाधा डालें शुभकृति में;
हरिश्चन्द्र का राज्य जा रहा नहीं किसी भी दुष्कृति में।
आप सोचिए अपने प्रण से क्षत्रिय कैसे हट सकता ?
वैभव से कर्तव्य बड़ा है, सत्य नहीं अब मिट सकता।
सूर्य-वंश का गौरव इससे जग में युग-युग फैलेगा;
हँसने का क्या काम ? सत्य का जग आदर्श पकड़लेगा।
सौंप रहा हूँ राज्य-धुरा को योग्य पात्र के दृढ़ कर में;
कष्ट प्रजा को क्या होना है ? करें न संशय अन्तर में।
कौशिक ऋषि पहले राजा थे अब अति घोर तपस्वी हैं;
नहीं देखते क्या तुम ? कितने लोचन-युग तेजस्वी हैं।

तुमको तो इक साथ मिलेगी महाभाग्य से सुन्दर सृष्टि;
भूपति का वीरत्व, तपस्वी योगी की भी अन्तर्दृष्टि।"

हरिश्चन्द्र ने सरल भाव से कहा, किन्तु ऋषि जी भड़के;
हुआ व्यङ्ग का भास व्यर्थ ही वह घन-विद्युत-से कड़के।

"अरे व्यर्थ की बात न कर, क्या रक्खा है इन बातों में;
मैं भी समझ रहा हूँ जो कुछ छुपा रहा है घातों में!
चरण पकड़ ले, क्षमा माँग ले, राज्यदान कर क्या लेगा?
करुणा-वश होकर कहता हूँ, गर्व तुझे क्षय कर देगा!"

शान्त-भाव से हाथ जोड़कर कहा भूप ने—"हे ऋषिवर!
गर्व, कपट का काम यहाँ क्या? स्वच्छ, सरल, मृदु है अन्तर!
चरण पकड़ लूँ कोटिवार मैं, किन्तु क्षमा को क्या भिक्षा?
झूठ बोलकर खुश करने की मिली नहीं मुझको शिक्षा।
अब तो राज-मुकुट को उपधा चरणों में लेनी होगी;
सेवक को कर्तव्य-भार से छुट्टी दे देनी होगी।"

"अच्छा तो ला क्या देता है? देखूँ कैसा दानी है?
देने को न एक कौड़ी बस खाली अकड़ दिखानी है।"

हरिश्चन्द्र ने हँसते खिलते भूमि-पिण्ड ऋषि के कर में—
देकर कहा—"आज से सारा राज्य आपके श्री-कर में!
कौशिक ने संकल्प ग्रहण कर त्वरित कहा लज्जित मुख से;
अखिल सभा में सभी ओर अति नीरवता छाई दुख से।

क्रोध विचारों का नाशक है, सम्यग्-ज्ञान नहीं रहता;
क्या होगा फल आगे, इस का कुछ भी भान नहीं रहता।

कौशिक का क्रोधानल प्रतिपल-प्रतिक्षण बढ़ता जाता है;
नृप का देख दान का साहस क्षुब्ध और हो जाता है।
हरिश्चन्द्र को नीचा दिखलाने की बस मन में ठानी;
भूल-भाल कर मुनि-मर्यादा, करते केवल मन मानी।

"राजन् ! तव सर्वोच्च दान है, हुआ न ऐसा कभी कहीं;
किन्तु दान के योग्य दक्षिणा देने की क्यों कमी रही ?"

"क्षमा करें, मैं भूल गया था, क्या विलम्ब है अब लीजे"
"सचिव ! कोष से सहस्र स्वर्ण की मुद्रा ला ऋषि को दीजे।"

"धन्यवाद है, क्या इसको ही कहते राज्यश्री का दान;
राज्य दे चुके, फिर भी अटका हुआ कोष के ऊपर ध्यान।"

हरिश्चन्द्र कुछ स्तब्ध हुए तो कौशिक की वाणी मचली ?
"देखा, आखिर अन्तर में का रंग निखर आया असली।
दत्त दान में से देने का कैसा अभिनव ढोंग रचा ?
त्याग राज्य का कर देने पर, कहो और क्या शेष बचा ?

निज तन, सुत औ' रानी के अतिरिक्त न तेरा कुछ भी है;
आभूषण, धन, जन, सेना पर स्वत्व नहीं अणुभर भी है।

सूर्य-वंश में जन्म लिया, फिर भी अज्ञान बड़ा भारी;
आदि देव श्री ऋषभ देव की कीर्ति कलंकित कर डारी।
व्यर्थ मुक्त कीं सुर बालाएँ, फिर अपराध नहीं माना;
भ्रान्ति पुनः की राज्य-दान कर, बना दान का दीवाना।
भूल, भूल, फिर भूल भयङ्कर-भूल दक्षिणा लाने में;
कैसी जड़ता दिखलाई है दत्त कोष हथियाने में।
तेरा यह अज्ञान देख कर, करुणा उमड़ी आती है;
स्वीकृत करले दोष कि बिगड़ी बात अभी बन जाती है।"

वीर पुरुष अपवाणी सुन कर क्रोध नहीं मन में लाते;
अविचल शांत, प्रशांत सिन्धु से नहीं क्षुब्धता दिखलाते।
शत-शत विद्युत पड़ें सिंधु में, क्या प्रभाव दिखलाएँगी ?
अतल जलधि में सदाकाल के लिए शान्त होजाएँगी।

कौशिक ऋषि कटु वाणी कहकर क्रोध वह्नि भड़काते हैं;
किन्तु भूप कितनी ममता से स्नेह-मधुर बतलाते हैं ?

"ठीक कहा है भगवन् ! अब मैं नहीं कोष का स्वामी हूँ;
फिर भी सहस्र स्वर्ण की मुद्रा दूँगा, सच का हामी हूँ।"

"कैसे देगा इतना ऋण ? क्या भीख कहीं से माँगेगा ?
व्यर्थ कदाग्रह से निज कुल पर अमिट कलंक लगा लेगा ?"

"माँगेगा क्या कश्यप-वंशी, वह तो बस देना जाने;
होता है मालूम अभी तक नहीं दास को पहचाने।"

"अच्छा फिर कैसे लाएगा ? अरे हमें भी तो बतला;
बातें बना, दक्षिणा-धन में डालेगा इक दिन घपला।"

"तन बेचूँ, कुछ करूँ, आपका ऋण न डूबने पाएगा;
हरिश्चन्द्र रवि-कुल-गौरव को नहीं कलंक लगाएगा।
आज अभी तो यह जीवन है, और नहीं कुछ देने को;
एक मास का समय चाहिए ऋण का भार चुकाने को।"

क्रोध-प्रकंपित स्वर में बोले—"अरे नहीं अब भी हटता;
एक मास का अवसर देता अच्छा दिखला प्रण-दृढ़ता।
तीस दिनों से बढ़ा एक भी दिन तो ब्रह्म-दण्ड दूँगा;
कर डालूँगा भस्म पलक में, सारी अकड़ निकालूँगा !"

"ब्रह्म-दण्ड से नहीं, एक बस सत्य-दण्ड से डरता हूँ;
तन, धन, जीवन नश्वर है, परवाह न इसकी करता हूँ।
शिरोधार्य है आज्ञा, ऋषिवर ! पूर्णतया पालन होगी,
चलता हूँ, अब ऋण-शोधन में देर नहीं कुछ भी होगी।"

"कहाँ चला है, एक बात है, सुनले ध्यान लगा कर तू;
महा पुनीत दक्षिणा-ऋण है, देना स्वयं कमा कर तू।
अगर किसी से बिना परिश्रम मुफ़्त दक्षिणा लाएगा;
स्पष्ट कहे देता हूँ, कौशिक पैरों से ठुकराएगा।"

"प्रभो ! आपका हरिश्चन्द्र क्या मुफ़्त दक्षिणा लाएगा ?
एक एक कौड़ी तक अपने बल से स्वयं कमाएगा !

सूर्य-वंश की गरिमा को अक्षुण्ण सर्वथा रक्खूँगा;
आप रहें निश्चिन्त दक्षिणा स्वयं कमा कर ही दूँगा।"

"अच्छा तो बस आज रहो, कल तुमको चल देना होगा;
रानी सुत को संग में लेकर कौशल तज देना होगा।"

"अच्छा, भगवन्! नमस्कार है, आज्ञा दीजे, चलता हूँ;
यात्रा की, आज्ञानुसार अब शीघ्र व्यवस्था करता हूँ।
भ्रमवश यदि अपराध हुआ हो, क्षमा दास को करिएगा;
कभी-कभी निज हृदय कमल में याद दास को करिएगा;
हाँ प्रभु! एक प्रार्थना मेरी खास-तौर से चरणों में;
अवध-राज्य की प्रजा आपके बहे प्रेम के झरनों में।
अब तक सुख में रही प्रजा है, पाकर मधुर मृदुल शासन;
यही आपसे भी आशा है, सुत-सम करें प्रजा-पालन।
कौशल के जन भद्र-सरल हैं, ध्यान न भूलों पर देना;
करुणा सागर! करुणा करना, व्यर्थ भस्म मत कर देना।"

विश्वामित्र उबल कर बोले—"हमको भी शिक्षा देता?
शर्म नहीं आती है तुझको, तू ही क्या जग में नेता?
तूने किस बिरते पर मुझको समझा मूरख अज्ञानी;
नहीं जानता आज विश्व में गूँज रही मेरी वाणी!
मैं राजा हूँ, अतः राज्य का शासन, अथ-इति बदलूँगा;
जीर्ण शीर्ण तव शासन-विधि का चिह्न नहीं रहने दूँगा।

जो कुछ करना होगा, होगा, तुझे व्यर्थ की चिन्ता क्या ?
प्रजा-प्रेम के ढोंगी तेरी बता, रही अब सत्ता क्या ?
सारा राज्य आज से मेरा हुआ, बना मैं अधिकारी;
कल से नई व्यवस्था होगी, होगी नई प्रथा जारी !"

वीर सभासद् कटु वचनों को, सुनते-सुनते श्रान्त हुए;
रोक न सके स्वयं को आखिर दुर्नय से उत्क्रान्त हुए।

"ऋषिवर ! यह क्या विकट सभ्यता, मर्यादा का लेश नहीं;
उपकारी दाता को देते शिष्ट कभी यों क्लेश नहीं ?
आप साधु हैं, रहें साधु ही, क्यों स्व-साधुता भंग करें;
निष्कारण केवल आग्रह-वश, क्यों भूपति को तंग करें ?
अगर राज्य की इच्छा है तो राज्य पा लिया भूपति से;
ऊपर से क्या और दक्षिणा ? काम लीजिए सन्मति से।
अगर स्वर्ण की मुद्राओं पर मन है तो हम से लीजे;
नृप को कर ऋण-मुक्त नगर में रहने की आज्ञा दीजे।
शासन यंत्र व्यवस्थामय है, इसमें भी क्या परिवर्त्तन;
अनुचित शासन सह न सकेंगे, हम कौशल जनपद के जन।"

देखा, पाठक वृन्द ! पूर्व का युग भी कैसा उन्नत है;
सत्य-धर्म के आगे धन, जन, मान, प्रतिष्ठा तृणवत है।

राज्यभ्रष्ट निज भूपति का सभ्यों ने कैसा पक्ष लिया ?
सत्य पक्ष के लिए क्रुद्ध ऋषि कौशिक का भी भय न किया।

आप जानते हैं कौशिक पर आग्रह का था भूत चढ़ा;
क्रोधानल की ज्वालाओं की भीषणता का वेग बढ़ा।

"तुम होते हो कौन बीच में, जाओ अपना काम करो;
राजा को खुश करने का यह लोग-दिखावा, दम न भरो!
मैं कौशिक हूँ, अतः सर्वथा मुझसे डरते दूर रहो;
अगर अधिक बकवास करो तो मरने को मजबूर रहो।"

"क्या कहते हैं लोग-दिखावा? अटल सत्य का गर्जन है;
मरने से हम तनिक न डरते व्यर्थ आपका तर्जन है।
ऋषि होकर भी आप शान्ति से काम नहीं क्यों ले सकते?
कितनी घोर अनीति-रीति है, ध्यान नहीं क्यों दे सकते?
हम भूपति के और हमारे भूपति हैं, तुम होते कौन?
मनमानी न यहाँ संभव है, व्यर्थ न बोलें, रखिए मौन!"

हरिश्चन्द्र ने कहा बीच में—'क्या कहते हो, शान्त रहो;
ऋषिवर जो कुछ कहें, करें, वह शीष झुकाकर सभी सहो।
दान दे चुका हूँ मैं, फलतः कौशल के ऋषि नायक हैं;
आप सभासद हुए आज से ऋषि के राज्य-सहायक हैं।
शासक और सभासद के सम्बन्ध मधुर वाँछित जग में;
कभी भूलकर आप न जाएँ असद् भाव के कटु मग में।"

विश्वामित्र क्रोध औ' छल के कारण तेजोहीन हुए;
सभ्यों का कुछ कर न सके ऋत बल के आगे क्षीण हुए।

सभासदों के ऊपर का सब क्रोध धरापति पर बरसा;
उबला, उछला, उमला अति ही क्षुब्ध पहाड़ी निर्झर-सा।

"अरे कुटिल, क्या जाल? इधर तो बना-राज्य देकर दानी;
उधर प्रजा को भड़का कर विद्रोह कराता, अज्ञानी!
पाक-साफ़ बनने को ऊपर से समझाने की माया;
अगर राज्य का मोह शेष था, फिर क्यों दानी कहलाया?"

अभिवन्दन कर कहा भूप ने—"क्षमा सिन्धु! अब क्षमा करें;
मेरा क्या है दोष सभासद अगर आपसे नहीं डरें।
मैं तो यहाँ अचल बैठा हूँ नहीं अभी तक कहीं गया;
किसको कैसे क्या बहकाया? समझ न पाया दोष नया!
आप स्वयं क्रोधित पहले हो, क्रोध इन्हें दिलवाते हैं;
शासक-योग्य स्नेहयुत मृदुता नहीं आप अपनाते हैं।
धैर्य रखें, नव परिवर्तन है, ठीक सभी हो जाएगा;
यथाशक्य यह सेवक, जनता भवदनुकूल बनाएगा।"

हरिश्चन्द्र ऋषि-आज्ञा लेकर विदा महल की ओर हुए;
गए सभासद भी नगरी में व्याकुल दुःख-विभोर हुए।

प्रजा-प्रेम

राज्य-दान की बात का मचा नगर में शोर;
उमड़ पड़ा जनसिन्धु तब राजसभा की ओर।

प्रजा-दुःख में दुखी, सौख्य में सुखी भूप यदि होता है;
हृदय प्रजा का राजा के प्रति फिर वैसा ही होता है।
सत्यनिष्ठ, कर्तव्य-निष्ठ, धर्मज्ञ भूप के प्रति तन, धन—
सभी समर्पण करती जनता, प्रबल प्रेम का है बन्धन।

हरिश्चन्द्र के प्रति कौशल की जनता थी अति स्नेहवती;
राज्य-दान की घटना सुन कर बनी दुःखिता शोकवती।
गली और बाजारों में सर्वत्र यही बस चर्चा थी;
कौशिक ऋषि के लिए एक धिक्कार शब्द की अर्चा थी।
क्रुद्ध, क्षुब्ध जनता का सागर उबल रहा था भयकारी;
राज्यसभा के दरवाजे पर भीड़ जुड़ी अति ही भारी!

सहस-सहस कण्ठों की वाणी गर्ज रही थी अतिभीषण;
"देखो क्या, बस मार-मार कर आज बना डालो चूरण।"

देख दशा उन्मत्त प्रजा की, पुर-नेता आगे आए;
सोचा कहीं क्षोभ के कारण रक्त-पात हा! हो जाए।

"मित्रो! सोचो और विचारो, नहीं शीघ्रता हितकारी;
हुल्लड़-बाजी के कारण से हो न व्यर्थ हत्या जारी।
दुःसाहस से कभी न अपना और नृपति का हित होगा;
प्रत्युत भूपति रुष्ट बनेंगे, कार्य अगर अनुचित होगा।
किसी तरह भी हो, राजा ने राज्य दिया है कौशिक को;
बतलाएँ, फिर क्या हक हमको बुरा बताएँ कौशिक को।
पाँच-सात सज्जन मिलकर हम कौशिक ऋषि को समझाएँ;
संभव है कुछ विकट ग्रन्थियाँ उलझी हुई सुलझ जाएँ।"

हुए एक मत सब जन इस पर, बना शीघ्र प्रतिनिधि-मंडल;
योग्य, चतुर, समयज्ञ, अभय, विश्वासपात्र, जनप्रिय, निश्छल।
राज्य-सभा में पहुँचे प्रतिनिधि, किया शिष्टता-युत वन्दन;
नम्र भाव से हाथ जोड़ कर किए प्रकट मन के स्पन्दन।

'भगवन्! आज अचानक कैसा यह परिवर्तन आया है?
क्या झंझट है? समझ न सकते, शोक नगर में छाया है।
आप तपोधन त्यागी ऋषि हैं, राज्य प्राप्त कर क्या लेंगे?
त्याग दिया जब निजी राज्य, फिर क्यों अन्यत्र दखल देंगे।"

"रहने दो बस उपदेशों की व्यर्थ लगाते क्यों झड़ियाँ;
तुम्हें सत्य का पता न, समझो, पहले घटना की कड़ियाँ।
मुझे राज्य की क्या इच्छा ? खुद मैंने अपना ठुकराया;
क्या समझा ? इस तुच्छ राज्य पर कौशिक का मन ललचाया।
हरिश्चन्द्र है मूर्ख, स्वयंकृत उसकी ही सारी झंझट;
शाप-बद्ध सुर-बालाओं को छोड़, व्यर्थ ही की खटपट।
उपालंभ मैं देने आया, वह उलटा मुझसे अकड़ा;
अपराधों की स्वीकृति कैसी ? झगड़े का उत्पथ पकड़ा।
राज-धर्म का झूठा हठ कर राज्य-दान भी दिया मुझे;
दान दिया क्या, शोर मचाकर अपमानित अति किया मुझे।"

"आप सन्त हैं, क्षमा-सिन्धु हैं, क्षमा-भाव रक्खें सब पर;
क्या झंझट से लेना तुमको, वापस राज्य दीजिए फिर !"

"यह सब झूठी लल्लो-चप्पो, राज्य न वापस हो सकता;
कौशिक अपने ऋषि-पद का अभिमान न हर्गिज खो सकता।
राजा को समझादो, अपना दोष क्यों न स्वीकार करे ?
अभी राज्य लौटा देता हूँ, नहीं राज्य का लोभ अरे !"

"राजा न्यायनिपुण हैं, हर्गिज दोष न कोई कर सकते;
सत्य-निष्ठ हैं, अतः कभी क्यों मिथ्या स्वीकृति भर सकते।
अगर वस्तुतः कोई भी अपराध धरापति से होता;
स्पष्ट आप से क्षमा माँगते, यह झगड़ा न बढ़ा होता ?"

"अरे सँभल कर बोलो तुम, क्या कहते हो मैं झूठा हूँ;
मैं कौशिक हूँ नहीं जानते, भीषण होता रूठा हूँ।
दोषी को निर्दोष बताते तुम्हें न लज्जा आती है;
धर्म-भ्रष्ट नृप के होते ही प्रजा भ्रष्ट हो जाती है।"

"ख़ैर, हमें क्या, दोषी होंगे, वापस राज्य न लौटाएँ;
किन्तु दक्षिणा के ऋण का तो प्रश्न शान्ति से सुलझाएँ।"

"अरे कह दिया तुमको, जाकर हठी भूप को समझादो,
एक दोष की स्वीकृति से सब प्रश्न ख़त्म हैं बतलादो।"

"दोष, दक्षिणा-ऋण की बातें भिन्न-भिन्न हैं आपस में,
भगवन ! ऋषि होकर भी भूले, अड़े विकट दुःसाहस में।
सहस स्वर्ण की मुद्रा क्या हैं, लक्ष कोटि हमसे लीजे,
किन्तु प्रार्थना है भूपति को ऋण से मुक्त बना दीजे।
यह तो है अन्याय भयंकर राजा भी निर्वासित हों;
स्वर्ण-महल के रहने वाले पद-पद घोर तिरस्कृत हों।"

"तुम भी हो कौशल के वासी, राज्य-दान में दान किए;
किस झूठी भ्रमणा में फिरते देने का अभिमान लिए।
हरिश्चन्द्र यदि रहे यहाँ तो फिर मैंने क्या राज्य लिया;
वह शासक क्या, जिसने अपना शासन नहीं स्वतंत्र किया।

राज्य-दान दे चुका, बताओ, फिर कैसे वह रह सकता
सत्य-निष्ठ है हरिश्चन्द्र, क्या सत्य-भंग है कर सकता ?

बुद्धि-भ्रष्ट तुम सोच न सकते मैंने क्या अन्याय किया,
अपराधी को दण्डित कर ऋषि-गौरव को अक्षुण्ण किया।"

"यह कैसा है न्याय, वृथा ही भूपति को दुख देते हैं;
ऋषि-मुनियों के उज्ज्वल यश को घोर कलङ्कित करते हैं।
राजा अलग रहेंगे कुछ भी दखल न देंगे शासन में;
फिर क्यों हठ-वश अड़े हुए हैं, भूपति के निर्वासन में।
जान गए हैं छुपा हुआ है, क्या निर्दय अन्तर मति में?
त्रस्त प्रजा को करना है बस भूपति की अनुपस्थिति में।
किन्तु समझ लें, सफल न होंगे, यह कौशल की जनता है;
प्राणों से भी बढ़ कर उसको न्याय-नीति की ममता है।"

'रे असभ्य! निर्लज्ज! बोलने की भी तुमको बुद्धि नहीं;
द्वेष, दम्भ, दुष्कृति से दूषित अन्तर में अणु शुद्धि नहीं।
निकलो बाहर, दुराग्रही हो, व्यर्थ कदाग्रह ठान रहे;
ऋषियों से हठ करने का परिणाम न सुन्दर, ध्यान रहे।"

शिष्य वर्ग ने आज्ञा पाकर सभ्य गृहस्थ निकाल दिए;
बाहर आए घोर निराशा की निज मुख पर छाप लिए।
जनता को जब पता लगा अपमान और निष्फलता का;
रौद्र रूप हो जाग उठा अति साहस अप-मंगलता का।

नेताओं ने कहा—"आप सब शान्त रहें, झगड़ा न करें;
किसी तरह भी हो मन मथ कर, अब तो यह दुख सिन्धु तरें।

राजा ने जब स्वयं राज्य का दान दिया, तब क्या करना ?
कौशल का विधि वाम हुआ है, पड़ा अचानक दुख भरना।
मानव को तो यत्न मात्र का स्वत्व मिला है जीवन में;
फल मिलना, अधिकार परे की बात भाग्य के बन्धन में।"

राजा के गुण-गायन गाते विवश प्रजा-जन लौट गए;
'स्वयं नृपति का दान' श्रवण कर चित्त उबलते शान्त हुए।

आदर्श पत्नी

पति-पत्नी के प्रेम का भव्य मनोहर चित्र;
पाठक देखें, भक्ति से उज्ज्वल करें चरित्र।

हरिश्चन्द्र नृप स्वर्ण-महल की ओर प्रेम से बढ़ते हैं;
किन्तु चित्त की स्थिति विचित्र है, पाँव न आगे पड़ते हैं।
आँखों के आगे रह-रह कर तारा झलक दिखाती है;
भोले-भाले रोहित की भी याद हृदय अकुलाती है।

"कौशिक को सर्वस्व दान दे दिया, नहीं कुछ भी चिन्ता;
वज्र प्रकृति का बना हुआ हूँ, क्या निज सुख-दुख की चिन्ता?
तारा-रोहित को लेकिन निष्कारण झंझट में डाला;
मुझको अपना सत्य निभाना, ये क्यों भोगें दुख-ज्वाला?
विकट समस्या, इन्हें कहाँ किसके आश्रय में छोड़ूँगा?
सब से बढ़कर मृदुल स्नेह का बन्धन कैसे तोड़ूँगा?"

इस प्रकार चल संकल्पों की लहरों से लेते टक्कर;
कम्पित तन से, कम्पित मन से पहुँचे महलों में नृपवर।

पता चला जब दासी से तो उन्मन उपवन में आए;
लता-कुञ्ज की ओट मातृ-सुत स्नेहमूर्ति बैठे पाए।

तारा, सुत को गोद लिए आनन्द-सिन्धु में बहती है;
रोहित की निर्द्वन्द्व स्वर्ण-सी मूर्ति खिल-खिला हँसती है।
शान्त, कान्त, एकान्त स्थान में पूर्ण शान्ति थी सुखदानी;
रोहित के प्रति खेल-खेल में, बोली सस्मित महारानी!

"बेटा तू है कौन? और किस कुल का उज्ज्वल दीपक है?
सूर्यवंश के महिमामय यश गौरव का सम्वर्द्धक है।
हठी, लालची, अभिमानी, कटुभाषी तू न कभी बनना;
वीर पिता के वीर पुत्र हो, निर्भयता का पथ चुनना।
कैसा अच्छा शोभित होगा रत्नजटित सिंहासन पर;
अपना यश-परिमल फैलाना प्रजा प्रेम से पालन कर।"

बालक के मन पर माता की शिक्षा स्थायी होती है;
स्नेह-सिक्त मधु वचनावलियाँ जीवन का मल धोती हैं।
कच्चा घट है शिशु, मन चाहा रूप-विरूप बना लीजे;
कायर, वीर, मूर्ख या पण्डित, दुर्जन, या सज्जन कीजे।
हन्त! आज की माताएँ सन्तति का ध्यान न रखती हैं;
कोमल मन में दुर्भावों का जहर हलाहल भरती हैं।

हाँ तो हरिश्चन्द्र यह मंजुल दृश्य देख अति अकुलाए;
भावी कष्ट-चित्र से आँसू आँखों बीच उमड़ आए।

मन ही मन में कहा-"प्रिये! तू किस भ्रमणा में भूली है?
क्या रोहित के लिए प्रेम में बैठी फूली-फूली है?
आज तुम्हारा पति, रोहित का हा! सर्वस्व लुटा आया;
पता नहीं क्या तुम्हें, भूप से बस कंगाल बना आया।"

सहसा दृष्टि पड़ी रानी की शीघ्र हास्य उछला आकर;
उर-विनोद के लिए पुत्र से रानी बोली मुसका कर।

"चल, रोहित चल, महाराज अब तक न स्वर्ण-मृगशिशु लाए;
देख, किन्तु चुपके से तेरा खेल देखने को आए।"

तारा ज्योंही रोहित का कर पकड़ अलग को चलती है;
बाल मूर्ति कर छुड़ा पिता की ओर विहँसती बढ़ती है।
हरिश्चन्द्र ने उठा गोद में सुत का स्मित मुख चूम लिया;
तारा हँस कर बोली-"मेरा रोहित भी लो छीन लिया;
अच्छा ले लो पुत्र आपका, मैं एकाकी रह लूँगी;
देख, किन्तु रोहित! फिर अपने पास नहीं आने दूँगी।"

कह कर यों जब चली विहँसती विद्युत-रेखा-सी तारा;
भूपति कृत्रिम स्मित कर बोले संचय कर निज बल सारा।

"हाँ तारा ! तुम जाओ, अब तो तुम्हें अकेले रहना है;
यह विनोद का समय न, जो कुछ कहना सच्चा कहना है।
आज हृदय की रानी ! तुमसे विदा माँगने आया हूँ;
पता नहीं अब कब मिलना हो, अन्तिम मिलने आया हूँ।"

तारा स्तब्ध हुई क्रीड़ा औ' कौतुक पल में नष्ट हुए;
देखा पति के मुख-मण्डल पर म्लानि भाव ही दृष्ट हुए।

हरिश्चन्द्र के मुख पर गहरी करुणा की तमसा छाई;
श्रावण में शशधर-मण्डल पर जैसे श्याम घटा आई।

कातर गति से तारा ने आ हाथ पकड़ पूछा—"प्रियतम!
क्या कारण? क्या हुआ? बताएँ, हृदय भयाकुल कम्पित मम!

"रानी! बस, क्या सुन कर लोगी, तुम न सहन कर पाओगी;
इस अनर्थ का सूत्रपात भर सुनते ही डर जाओगी।"

"डरने की क्या बात ? आपकी दासी हूँ मैं भी स्वामी !
वीर क्षत्रिया बाला हूँ, मैं श्री चरणों की अनु-गामी !
समझ चुकी हूँ मुख–मुद्रा से कोई दुःखद घटना है:
किन्तु नाथ! क्या दुख के कारण जीवन से मर मिटना है ?
दुःख, दुःख है, जब आता है, सहन किया ही जाता है;
नर-जीवन में धूप छाँह-सा सुख-दुख का चिर नाता है !
सह न सकी यदि सारा दुख तो आधा निश्चित सह लूँगी;
मैं हूँ अर्द्ध-अङ्गिनी स्वामी ! धीर दुःख में रह लूँगी।

"तारा ! तुझसे कहाँ छिपाऊँ ? तू साथिन है जीवन की;
ब्याह-काल से जुड़ी हुई हैं कड़ियाँ अचल युगल मन की!
कौशिक ऋषि ने आज सभा में राज्य-दान मुझसे माँगा;
मैंने भी कर्तव्य-विवश सर्वस्व उसी क्षण में त्यागा।
तारा ! कुछ भी कहो, त्वरा में ध्यान नहीं आया तेरा;
रोहित से सुत को भी भूला, आग्रह ने मन को घेरा !"

"हृदयेश्वर ! क्या इसी बात की दुःख घटा यह छाई है;
मैंने तो समझा था कोई विपद् अचानक आई है।
कौशिक को साम्राज्य दिया, इससे तो हर्ष बड़ा भारी;
सूर्यवंश की रही सुरक्षित चिर-रक्षित महिमा सारी।
याचक बनकर ऋषिवर आये, देना ही सर्वोत्तम था;
दानपात्र भी भाग्य-योग से मिला महान महत्तम था।
आज गर्व से मेरा मस्तक ऊपर उठता जाता है;
दानवीर पति सर्वोत्तम पा हर्ष न हृदय समाता है।
रोहित की क्या चिन्ता? वह तो योग्य पिता का योग्य तनय;
सब कुछ पायेगा निज बल से आने दो वह उचित समय।"

"राज्य मात्र ही नहीं, राज्य के साथ सभी कुछ दे डाला;
फूटी कौड़ी भी न पास में, रुकता क्या देने वाला ?
नहीं रहा है खाने को, हाँ एक समय का भी भोजन;
रहने को घर नहीं, और फिर ऊपर चढ़ा दक्षिणा ऋण।"

"प्राणेश्वर ! यह दान अलौकिक और न कोई दे सकता;
सर्व समर्पण करने का गुरु भार और क्या खेसकता ?
धन्य भाग्य हैं, सूर्यवंश का शुभ गौरव तुमसे चमका;
क्षत्रिय जग में दान धर्म का उज्ज्वल मुख फिर से दमका।
रहने खाने की क्या चिन्ता ? पशु भी तो रहते खाते;
हम तो मानव सदा सत्य के बल पर आनँद ही पाते !"

"तारा! तुम हो धन्य सर्वथा, धन्य तुम्हारे मात पिता;
मैं भी धन्य, मिली जो तुमसी श्रेष्ठ सहचरी धर्म-रता।
सहानुभूति की मूर्ति मनोहर, कितना अविचल मन पाया;
मैंने समझा दुख पाओगी, किन्तु धैर्य दृढ़ दिखलाया !
शिक्षा लेंगी तुमसे आगे आने वाली महिलाएँ;
विकट परिस्थिति में भी पति के चरणों पर कैसे जाएँ ?"

"इसमें क्या है धन्यवाद की बात, प्राणपति ! बतलाएँ;
हम महिला कर्तव्य-मार्ग से कैसे नाथ ! पिछड़ जाएँ ?
मैंने तो पत्नी होने का अपना धर्म निभाया है;
जो कुछ भी कर सकी प्रभो ! यह सभी तुम्हारी माया है।
मेरे मन में आप बड़े हैं राज्य चीज क्या बेचारा ?
पतिव्रता पति-हित ठुकरातीं स्वर्गों का भी सुख प्यारा।
राज्य-दान का मुझको दुख क्यों होता, मैं अर्द्धाङ्गिनि हूँ;
दान धर्म के अर्ध भाग की न्याय सिद्ध अधिकारिणि हूँ।"

"अच्छा, प्यारी ! मुझे यहाँ से कल प्रभात ही जाना है;
एक मास के अन्दर ऋषि के ऋण का भार चुकाना है।
अगर मास में ऋण न दे सका सत्य भ्रष्ट हो जाऊँगा;
कौशिक ऋषि के क्रोधानल में वंश-सहित जल जाऊँगा।
अस्तु, तुम्हारे लिए आज ही मैं प्रबन्ध कर देता हूँ;
तुम्हें तुम्हारे पूज्य पिता के घर पर पहुँचा देता हूँ।"

तारा के मस्तक पर सहसा अम्बर-मण्डल टूट पड़ा;
शत-शत वज्रपात-सा भीषण हुआ हृदय में दुःख बड़ा ;

कुछ क्षण रह निःस्तब्ध कहा—"पतिदेव, आप क्या कहते हैं ?
आत्मा के जाने के पीछे प्राण कहाँ कब रहते हैं ?
पित्रालय में छोड़ हमें क्या स्नेह-सूत्र को तोड़ेंगे ?
क्या सचमुच ही चिरदासी से आज निजानन मोड़ेंगे ?
तन से छाया, और चन्द्र से स्वच्छ चन्द्रिका दूर नहीं;
हो सकती पत्नी भी पति से दूर त्रिकाल कदापि नहीं।"

"तारा ! वन-पथ औ' प्रवास का जीवन कितना संकटमय ?
पद-पद पर अपमान यंत्रणा, नव्य प्रदेश सभी थल भय !
ठीक समय पर रूखे-सूखे भोजन का भी है टोटा;
बाहर जाकर बन जाता व्यक्तित्व महत्तम भी छोटा !
राज-महल की राज बधू तुम, कमल-पुष्प-सा कोमल तन;
सुचिर गोद में पली सुखों की कैसे होगा कष्ट-सहन ?"

"प्राणेश्वर! क्या दुख की चिन्ता? हम भी क्षत्रिय बाला हैं;
पुष्प-सुकोमल राजमहल में, बाहर वज्र-कराला हैं।
सुख-दुख मानव तन पर आते जाते समय-समय पर हैं;
कभी पुष्प की मृदु कलिका पर, कभी कुटिल कण्टक पर हैं।
भाग्य पलट जब जाता है तो जंगल महल बराबर है;
सहन सभी कुछ करना होता, तुल्य निरादर आदर है।
मखमल के गद्दों के ऊपर भी जिनको उन्मन देखा;
समय पड़े पर काँटों में भी उनका खुश जीवन देखा।
खाने की क्या बात, आप भी रूखा सूखा खाएँगे;
सच कहती हूँ दासी को भी उसमें ही खुश पाएँगे!"

"तारा तुम भावुक हो, फलतः मधुर भावना रखती हो;
किन्तु समय की जटिल समस्याओं का ध्यान न रखती हो।
क्षत्रिय बाला हो तुम से दृढ़ साहस की कुछ आशा है;
किन्तु उग्र अति साहस की तो आशा नहीं, दुराशा है।
पति होने के नाते तुमको भामिनि कष्ट नहीं दूँगा;
कष्ट सहो मेरी आँखों के आगे, कैसे सह लूँगा?
पथ का भिक्षुक आज बना हूँ, ऋण का भार लदा शिर पर;
नहीं पता कब और कहाँ पर खानी हैं क्या-क्या ठोकर!
भद्रे! मेरे पीछे-पीछे कहाँ-कहाँ तुम जाओगी?
कौशल की रानी! अपने को कहाँ-कहाँ ठुकराओगी?"

"भाग्यवती हूँ, पति का इतना प्रेम-पूर्ण आदर पाया;
अपने दुख का ध्यान नहीं, पत्नी का दुख ही अकुलाया।
किन्तु नाथ ! मैं अर्द्धाङ्गिनि हूँ, निज आदर्श न भूलूँगी;
चाहे कुछ भी कहें आप, मैं अपने प्रण पर झूलूँगी।
आधा अङ्ग कष्ट में कलपे, आधा सुख के सागर में;
न्याय कहाँ का खुद ही सोचें, अपने निर्मल अन्तर में !
आप एक, असहाय दुःख की ठोकर खाएँ दर-दर की;
मैं महलों में मौजें लूटूँ मखमल के गद्दों पर की।
कोटि-कोटि धिक्कार मुझे, यह बात न हर्गिज हो सकती;
तारा महिलाओं की उज्ज्वल मर्यादा कब खो सकती ?
सुख में साथ रहे पति के, पर, दुख में छोड़ अकेली हो;
वह पत्नी पत्नी न, पापिनी पथ से भ्रष्ट रखेली हो।
कष्ट आपके संग जो होगा, कष्ट नहीं, वह सुख होगा;
और आपसे पृथक रहे पर सुख भी मुझको दुख होगा !
विना आपके स्वर्ग लोक को नरक लोक ही जानूँगी;
किन्तु आपके साथ नरक को स्वर्ग बराबर मानूँगी !
सौ बातों की एक बात, चरणों के साथ चलूँगी मैं;
आप नहीं टलते निज प्रण से, कैसे नाथ ! टलूँगी मैं ?"

आँखों के पथ अति द्रुतगति से झर-झर अश्रु प्रवाह बहा;
'अच्छा, प्रिये चलो'—भूपति ने मन्द हास्य के साथ कहा !

सूर्य देव निज किरण समेटे अस्ताचल की ओर ढले;
राजा-रानी लीला गति से अन्तःपुर की ओर चले !

अन्धकार में भी प्रकाश की यह उज्ज्वल रेखा कैसी ?
भीषण विपदा में भी सुख की स्नेह मधुर लेखा कैसी ?
सुख-दुख मन की झूठी चीजें, प्रेम बड़ा सबसे ऊपर;
आनन्दित रहते हैं प्रेमी कोटि-कोटि संकट सहकर !

गीत

नाम अमर बना गईं, भारत की कुल-नारियाँ;
कर्तव्य-ज्योति जगा गईं, चिर उजली चिनगारियाँ !
पति परमेश्वर के लिए जीवन अर्पण कर दिया;
संकट में अनुपद फिरीं छोड़ के महल अटारियाँ !
कर्तव्य के पथ पर चढ़ीं, परवाह न की सुख दु.ख की;
वज्र समान कठोर थीं, फूल-सी मृदु सुकुमारियाँ !
दान, दया, और शील के जौहर क्या दिखला गईं;
महक रही हैं आज भी सद्‌गुण की फुलवारियाँ !
तारा, सीता, द्रौपदी, सावित्री और अंजना;
एक से एक महान थी 'अमर' सदा बलिहारियाँ !

प्रस्थान

स्वार्थ-हेतु संसार नित, करता है अभियान,
पर भूपति का सत्य के हित सुन्दर प्रस्थान।

आज उषा साकेत पुरी के लिए प्रलय बन आई है;
महलों से ले झोंपड़ियों तक घटा शोक की छाई है।
राजा, राज्य छोड़ कर काशी जाते यह सुन कर जनता;
पागल-सी दौड़ी महलों को वृद्ध, युवा, बालक, वनिता।
भूपति-स्नेहासक्त बहुत से गला फाड़ कर रोते हैं;
कौशिक को गाली देते हैं, क्रुद्ध, क्षुब्ध अति होते हैं।
सहस लक्ष की क्या गणना है, भीड़ भयंकर प्राङ्गण में;
क्रोध और विद्रोह उछालें भरता सब के कण-कण में।

राज-पुरोहित श्वेत-श्मश्रु-धर कहता—' विधि की माया है;
बड़े बड़े ऋषि मुनि थक हारे, भेद न अब तक पाया है।

प्रकृति नटी पल-पल में क्या-क्या रंग-कुरंग बदलती है ?
नृप को रंक, रंक को राजा बना दृगों को छलती है।
आज पुष्प खिलता उपवन में वह कल है मुरझा जाता;
चढ़ता सूर्य सवेरे नभ में, शाम हुए पर ढल जाता।
हरिश्चन्द्र हा कल के राजा, आज बने भिक्षुक पथ के;
कौशिक भिक्षुक बने पलक में संचालक शासन-रथ के।"

कवि कहता–"यह दुनिया क्या है ? इन्द्रजाल की माया है;
मानव ! तेरी आँखों में यह नशा कौन-सा छाया है ?
'सुख में मानी, दुख में कायर'–अज्ञानी हैं कहलाते;
ज्ञानी सुख में हर्ष न करते, नहीं दुःख में घबराते !
दुराचार के कारण लाखों रोज़ रईस बिगड़ते हैं;
किन्तु धन्य वे सत्य-हेतु जो नृप से भिक्षुक बनते हैं।"

सूर्योदय होते ही राजा, रानी और तनय रोहित;
स्वर्ण-महल से नीचे उतरे रूप सर्वथा परिवर्तित।
रोहित, वसनाभूषण से जो परिमण्डित नित रहता था;
आज जीर्ण-सा चीवर पहने दास-बाल-सा लगता था।
तारा मुक्ता खचित वस्त्र औ भूषण का परित्याग किए;
उतरी राजमहल से दुर्विध दासी का-सा रूप लिए।
हरिश्चन्द्र निःशस्त्र नग्न-शिर एक मलिन चीवर धारे;
देख अयोध्यावासी हा हा–शब्द पुकार उठे सारे।

उमड़ पड़ी जनता चहुँदिशि से हरिश्चन्द्र को घेर लिया;
सहस-सहस कण्ठों ने जय के साथ यही निर्घोष किया—

"कौशल के सम्राट कहाँ तुम जाते हो ? हमको तज कर;
दीन, हीन, असहाय हमें अति क्रुद्ध साधु को अर्पित कर ?
चाहे कुछ हो, प्रभो ! आपको हम न कभी जाने देंगे;
आज्ञा होते ही कौशिक को पुर से बाहर डालेंगे।"

भूपति बोले—"धैर्य धरो, अब पलट नहीं कुछ सकता है;
हरिश्चन्द्र अब नहीं सत्य के पथ पर से हट सकता है।
नहीं धूलि की रेखा है जो ज़रा हवा से मिट जाए;
पत्थर की रेखा-सा प्रण है, क्या मजाल जो मिट जाए ?"

गीत

दृढ़ क्षत्रिय वीर कहाऊँगा,
मैं अपना धर्म निभाऊँगा,
प्रण को कर पूर्ण दिखाऊँगा,
मैं अपना......................!

सुख दुख का कुछ भी ध्यान नहीं,
धन वैभव का अर्मान नहीं,
बन भिक्षुक धक्के खाऊँगा;
मैं अपना...... ....!

यह राजपाट सब सपना है,
इक सत्य धर्म ही अपना है;
निज ध्येयों पै बलि जाऊँगा;
मैं अपना.....................!

मधु भोजन शाही छोड़ूँगा,
बन-फल से नाता जोड़ूँगा;
तरु नीचे रात बिताऊँगा;
मैं अपना.....................!

आकाश के तारे पृथ्वी पर,
पृथ्वी के पर्वत हों नभ पर;
पर, मैं निज पथ न भुलाऊँगा;
मैं अपना.....................!

भूपति ने घंटों समझा कर क्षुब्ध प्रजा को शान्त किया;
राजमहल लेने को तत्क्षण कौशिक ऋषि ने दर्श दिया।
राजा, रानी , रोहित ने सप्रेम किया ऋषि को वन्दन;
विश्वामित्र चकित, अति विस्मित हुए देख निज अभिनन्दन।

हरिश्चन्द्र ने कहा—"हमें आशीष दीजिए करुणा कर;
पूर्ण सफलता पाएँ अपने अङ्गीकृत प्रण के पथ पर।
प्राणों से भी प्यारी तुमको प्रजा समर्पित करता हूँ;
आशा है सुत-सम पालेंगे, आज्ञा दें, बस चलता हूँ।"

विश्वामित्र ग्लानि के कारण ऊपर शिर न उठा पाये;
स्तब्ध मौन ही रहे, नृपति को उत्तर कुछ न सुना पाये।

सोचा था—"भूपति को जाते अपमानित कर रोकूँगा;
रानी या सुत वस्त्राभूषण पहने होंगे, टोकूँगा।"

लज्जा की निवृत्ति-हेतु पर यहाँ एक ही चीवर था;
वह भी फटा-पुराना सीमित केवल तन ढँकने भर था!
कौड़ी भर धन पास नहीं था, तीनों ही थे नग्न-चरण;
कौशिक को कहने की खातिर मिला नहीं कुछ भी कारण!

कौशिक थे चुप हरिश्चन्द्र ने अपना निश्चित पथ पकड़ा;
जय-जय ध्वनि करता पीछे से आकुल जन-सागर उमड़ा।
शान्त-धीर-गति चलते-चलते आए पुर की सीमा पर;
अलग-अलग दो ऊँचे टीले देख चढ़े रानी, नृपवर।

राजा के टीले को आकर पुरुषों के दल ने घेरा;
महिला-दल ने रानी जी के टीले का सोचा फेरा!
राजा से कहते थे सब जन—"आप यहाँ से क्यों जाएँ?
कौशिक ऋषि के क्रोधानल में व्यर्थ हमें क्यों झुलसाएँ?
अगर आपको जाना है तो साथ हमें भी ले चलिए;
आहत हृदयों को क्षत-विक्षत और अधिक अब मत करिए।
विना आपके निर्जन वन-सी दुःखागार अयोध्या है;
निर्जन वन भी साथ आपके सुख-भंडार अयोध्या है।"

हरिश्चन्द्र ने प्रेम-भरे मृदु स्वर से लघु वक्तव्य दिया;
शोक-विकल जनता-मानस को सदुपदेश कुछ श्रव्य दिया।

"कौशल के शासक होने का मैं निज भाग्य मनाता हूँ;
संकट में भी आप प्रजा से शुद्ध प्रेम जो पाता हूँ।
मुझ सेवक पर प्रेम अनुग्रह-भाव आपका भारी है;
भूल न सकता हरिश्चन्द्र, पर आज बड़ी लाचारी है।
कौशिक को साम्राज्य दे चुका, अब कैसे मैं रह पाऊँ?
और विना ऋषि-आज्ञा कैसे साथ तुम्हें भी ले जाऊँ?
सत्य धर्म है एक मात्र अवलम्ब मानवी जीवन का,
सत्य धर्म के लिए निछावर गौरव है, सब तन, धन का।
सूर्य चन्द्र टल जायँ स्वगति से, पर न टलूँगा निज प्रण से:
कीर्ति, प्रतिष्ठा, प्रभुता सब कुछ एक सत्य के कारण से।
दुराचरण में पड़ वेश्या को राज्य अगर मैं दे देता;
फिर भी क्या इस भाँति आप से गौरव-आदर मैं लेता?
कौशिक से क्या घबराहट है? वे जगपरिचित शासक हैं,
क्रुद्ध भले हों, पर आखिर तो चिर-नीतिज्ञ विचारक हैं।
मेरे से भी बढ़कर इनके शासन में सुख पाएँगे,
शान्त रहेंगे, अगर शीघ्रता वश विप्लव न मचाएँगे?
संभव है कुछ गड़बड़ भी हो, पर उससे मत डरना तुम;
शान्त, सत्य का आग्रह रख प्रतिरोध यथोचित करना तुम।

निर्बलता, कायरता सारे दोषों की जननी होती;
न्याय-सिद्ध निर्भयता से ही विजय संकटों पर होती।
हाँ, तो देर हुई जाती है, मुझे स्व-पथ पर बढ़ने दें;
सौ में सौ नंबर बस मुझको पूर्ण प्रतिज्ञा करने दें।
प्रेम हृदय की वस्तु, बाह्य जग-परिदर्शन से क्या लेना ?
आप यहीं पर रहें, साथ चल कर तो व्यर्थ व्यथा देना।
भूत पूर्व राजा की आज्ञा लौटें अपने-अपने घर;
सत्य कलंकित होगा, यदि अब बढ़े कदम आगे पथ पर।
प्रेम यही है, सत्य पालिए कष्टों से भय-भीत न हों;
हरिश्चन्द्र तो इसमें खुश है, जीवन-लक्ष्य विगीत न हो।"

भूपति का आदेश प्रजा ने रोते-रोते मान लिया;
सत्य परिस्थिति जान व्यर्थ का और नहीं हठवाद किया।

उधर देवियाँ तारा के चरणों में विनती करती थीं;
बार-बार रो-रो कर लोचन अश्रु-वारि से भरती थीं।
"राजा प्रण से बँधे हमें असहाय छोड़कर जाते हैं;
सत्य, धर्म की रक्षा के हित, यह सब कष्ट उठाते हैं।
दान, दक्षिणा के बन्धन में बँधीं नहीं तुम तो रानी !
फिर क्यों हमको छोड़ जारही, बड़ी विकट है हैरानी।"

तारा अति ही नम्र भाव से हाथ जोड़ सब से बोली;
"क्या बतलाऊँ, मेरी बहनों ! तुम तो बिल्कुल हो भोली।

'पत्नी है अर्द्धाङ्गिनि पति की'—शास्त्रकार की है वाणी;
भूपति ऋण में बँधे, मुक्त मैं, नीति कौन-सी कल्याणी ?
पतिव्रता की मर्यादा को आप सर्वथा जान रहीं,
पर वियोग के दुख में विह्वल दे न उसे संमान रहीं।
पतिव्रता के जीवन में निज पति ही अन्दर बाहर है;
सर्वश्रेष्ठ आराध्य देव पति ही सच्चा परमेश्वर है।
नारी के जीवन में अपने सुख-दुख का कुछ मूल्य नहीं,
पति के सुख में सुखी दुःख में दुखी, और कुछ लक्ष्य नहीं :
प्राणनाथ वन-पथ को जाते, मैं कैसे रह सकती हूँ;
सेवा का अनमोल सुअवसर मैं कैसे तज सकती हूँ ?"

तारा का सुन वचन, चित्त सब महिलाओं का पिघल गया;
धन्य-धन्य कह चरणों लोटीं, करुणा का था दृश्य नया।

राजा-रानी समझा कर जब अपने पथ की ओर बढ़े;
लक्षाधिक कण्ठों के जय-जय घोष गगन की ओर चढ़े।

जीर्ण, मलिन-से वस्त्रों में भी राजा-रानी शोभित थे;
मुख मण्डल पर दिव्य क्रान्ति थी, दिन कर-ज्योति विराजित थे।

सत्य-तेज की महिमा अनुपम तुच्छ सभी वस्त्राभूषण;
विना धर्म के हो जाते हैं, भूषण भी आखिर दूषण।

राजा को इस संकट में भी हर्षित देख प्रजा गद्गद;
तारा की लख शान्ति-धीरता कहा सभी ने बस, है हद

कौशिक का राज्याधिकार

हरिश्चन्द्र भूपति गए जिस दिन नगरी छोड़;
अगले दिन साकेत में हुए और ही जोड़ !

प्रातःकाल अयोध्यावासी निद्रा से जागे ज्योंही;
पड़ा दिखाई विस्मय-कारक दृश्य एक अभिनव त्योंही।
स्थान-स्थान पर ऋषि ब्रह्मचारी गर्व-मत्त हो फिरते हैं;
गैरिक-चीवर-धारी मुण्डित, जटिल सरोष विचरते हैं।
पद्मासन से बैठ कोई सन्ध्या-वन्दन करते हैं;
पकड़ नासिका श्वास-वेग को वक्षःस्थल में भरते हैं।
बड़ी शान के साथ कमण्डल, जोर लगा कुछ माँज रहे;
अग्निहोत्र के लिये लकड़ियाँ कुछ फक्कड़ थे काट रहे।
'जय गुरु-देव' घोष के बल से गूँजा सारा गगनाङ्गण;
धीरे-धीरे धवल गृहों में घुसे तपस्वी क्लेश-हरण !

नगर-निवासी मूक भाव से काण्ड देखते खड़े खड़े;
शाप-भीति से परिकम्पित सब, ऋषि-मुनियों से कौन अड़े ?

एक नागरिक अति साहस कर बोला–"आप कौन भगवन् ?
क्यों घुसते हो गृही-गृहों में ? भूल गए क्या शास्त्र-चलन ?
अगर आप बन-वासी यों, हम लोगों के घर रह जाएँ ?
पुत्र, नारि, परिजन को लेकर, हम असहाय कहाँ जाएँ?"

उत्तर में ब्रह्मचारी बोले—"अरे मूढ़, क्या कहता है ?
श्रीगुरु का साम्राज्य अखिल है, किस दुनिया में रहता है?
शास्त्र-वचन दिखलाकर हमको नीच ! बनाता क्या लज्जित ?
अन्यायी भूपति को गुरु ने किया ब्रह्म-बल से दण्डित !
हरिश्चन्द्र के शासन में ही तुम स्वतंत्र रह सकते थे ?
हम ऋषियों को मन-चाही कटु-वाणी तुम कह सकते थे ?
कौशिक गुरु ने आज राज्य का सूत्र स्वतंत्र सँभाला है;
हम शिष्यों पर शासन का सब भार यथोचित डाला है !
आज हमीं कौशल-वैभव के एकमात्र हैं अधिकारी;
मन-चाहे जैसे भवनों में रहें, मिली आज्ञा प्यारी !
खाली करदो भव्य भवन, तुम लोग कहीं पर भी जाओ;
हम ऋषियों के आगे अपनी व्यर्थ अकड़ मत दिखलाओ !"

धीरे-धीरे सभ्य नागरिक, लगे पहुँचने गाँवों में;
हरिश्चन्द्र को करते थे सब याद प्रेम के भावों में।

सत्य हरिश्चन्द्र

कौशिक ऋषि ने राज-सभा में पहुंच सचिव से कहा वचन;
"आप सभी अधिकारी सौंपें, मेरे शिष्यों को शासन !"

अधिकारी-गण ने कौशिक का पालन शीघ्र निदेश किया;
शासन-सूत्र सौंप सब ऋषि को राज-सभा से कूँच किया।

कौशिक ऋषि को गर्व था कि–"मैं अच्छा शासन कर लूँगा;
जन्म-जात शासक हूँ, क्षण में ठीक व्यवस्था कर लूँगा !"

राज्य-भार जब पड़ा शीश पर शासन की कड़ियाँ उलझीं;
भूल गए पूर्वानुभूतियाँ तप-बल से न तनिक सुलझीं।
कोशल का साम्राज्य सुविस्तृत, नित नूतन गड़बड़ होती;
कौशिक क्रोध, लोभ दिखलाते और अधिक खड़बड़ होती।
नित्य नए गुरु-अभियोगों की मीमांसा करते-करते;
नाकों दम आ जाता ऋषि का उलझन हल करते-करते।

प्रजा-लोक भी ऋषि की अद्भुत मीमांसा से घबड़ाकर;
उच्छृङ्खल, उद्दण्ड तथा अति उद्धत हुए तंग आकर।

राज्य-कार्य की झंझट से जप-तप में विघ्न लगे पड़ने;
क्रमशः ऋषि की आत्म-साधना लगी प्रपंचों से सड़ने।

विश्वामित्र सोचते मन में–"क्या से क्या नाटक बदला ?
शुद्ध तपस्वी जीवन आकर व्यर्थ बना डाला गँदला !

हरिश्चन्द्र का क्या बिगड़ा, मिल गया उसे प्रत्युत गौरव;
तपस्तेज से भ्रष्ट हुआ मैं, छाया घोर विकट रौरव ?

गीत

जीवन-ध्येय भुलाया, भुलाया;
अरे आज अभिमान ने—ध्रुव

मन-मन्दिर में घोर अँधेरा;
ज्ञान का दीप बुझाया, अरे···

जप, तप, संयम, साधन छोड़ा;
नाश का जाल बिछाया, अरे···

ऋषि मुनियों के उज्ज्वल यश को;
कैसा दाग़ लगाया, अरे···

हरिश्चन्द्र का क्या कुछ बिगड़ा;
गौरव मैं ही नशाया, अरे···

सत्य-शक्ति ने तप-बल को ही;
तेजोहीन बनाया, अरे··

त्यागी भोगी, भोगी त्यागी;
उलटा चक्र चलाया, अरे···

हरिश्चन्द्र तू धन्य अमर है;
सत्य अखण्ड निभाया, अरे···

पश्चात्ताप-सुधा से ऋषि की मति अति निर्मल होजाती;
किन्तु उसी क्षण अहंकार की आँधी आई घहराती !
"अब तो कुछ भी हो भूपति को नीचा दिखलाना होगा;
चिर प्रसिद्ध ऋषि गौरव को ही ऊँचा बतलाना होगा।
अगर आज मैं हार मान लूँ, पूछेगा फिर कौन मुझे ?
नहीं कहीं भी बोल सकूँगा, रहना होगा मौन मुझे।"
कदाग्रहों में पड़ मानव का चित्त विकल हो जाता है;
जानबूझ कर भी सत्पथ को वह कभी न अपना पाता है !

—— ——

वन-पथ

सत्य धर्म की ज्योति से उज्ज्वल चित्त अतन्द्र:
हरिश्चन्द्र जग-वन्द्य-तम रवि-कुल-कैरव चन्द्र।

भीम-भयंकर सूना वन है, कहीं मनुज का नाम नहीं,
कदम-कदम पर दुख फैला है, लेश न सुख का काम कहीं!
पत्ते-पत्ते के पीछे मानव की मृत्यु छुपी बैठी;
वीरों को भी कम्पित करती भीषणता कण-कण पैठी!

निर्भय-मन निर्द्वन्द्व जा रहे, इसमें तीन भद्र प्राणी;
किस कारण? किसलिये? सत्य की मुख से निकली दृढ़ वाणी।
पाप-कर्म के लिये जगत में सहते लाखों, दाह सही:
धन्य-धन्य वे एक धर्म-हित जिन्हें दुःख-पर्वाह नहीं!

हरिश्चन्द्र, जिनके थे लाखों बन्दी यश गाने वाले;
आज अकेले नंगे पैरों चलने से पड़ते छाले।

तारा, जिसके चरणों नीचे पुष्प बिछाये थे जाते;
आज सुकोमल पद काँटों से शोणितमय हो-हो जाते।

रोहित, मात-पिता की आशाओं का केन्द्र कहाता था;
मन चाहा सुख कहने से जो पहले ही पा जाता था।
आज अनाथों-सा जीवन ले कण्टक पथ पर जाता है;
बालक है, चल सकता है क्या? पद-पद ठोकर खाता है!

तीनों ही जन मानवता का दिव्य नाट्य दिखला आये;
स्वर्ग-लोक-सा वैभव पल में सत्य हेतु ठुकरा आये!
कभी हजारों वर्षों में ये दिव्य ज्योतियाँ आती हैं;
पाप-तिमिर से भटके जग में धर्म रङ्ग चमकाती हैं।

हाँ, तो चलते-चलते रवि भी अस्ताचल की ओर ढले;
अन्धकार छागया विपिन में हिंस्र जन्तु चहुँ ओर चले।
राजा-रानी साहस के बल चलते रहे तिमिर में भी;
वज्र-प्रकृति के बने हुये हैं, भय न दु:ख-गह्वर में भी।

बालक रोहित त्रस्त हो उठा, अत: वृक्ष की छाया में;
पत्तों के बिस्तर पर सोये विकट प्रकृति की माया में।
हिंसक पशुओं से रक्षा-हित जगे नरेश्वर बड़ भागी,
अपर रात्रि में भूपति सोये धैर्य-मूर्ति रानी जागी।

सूर्योदय के होते ही घन अन्धकार डर कर भागा,
उज्ज्वल किरणें क्षिति पर फैलीं सुप्त विश्व-कण-कण जागा।
संकट में भी राजा-रानी भूल न नित्य क्रिया पाये;
प्रेम-भक्ति में तन्मय होकर श्री जिनवर के गुण गाये।

गीत

जय जिनेश्वर, जय जिनेश्वर, जय जिनेश्वर, जय जिनेश !
जय शुभंकर, जय शिवंकर, जय हितंकर, जय महेश !
सत्यमय, चिन्मय, अभय, आनन्दमय, कारुण्यमय;
वीतरागी, कर्ममल से मुक्त शुद्ध न दोष—लेश !
आपकी तेजोमयी तपशक्ति की महिमा महान्;
चरण-कमलों में झुकाते शीश नित सादर सुरेश !
आपके सुमरन से हो जाता अखिल पापों का लय;
ठहर सकता है तमस क्या ? जब उदय होता दिनेश !
कामना इक श्री-चरण में सत्य पर अविचल रहूँ;
देर क्या फिर खुद 'अमर' जीवन के कट जाएँगे क्लेश !

संकट में पड़ पामर प्राणी सदा कोसते ईश्वर को;
राम ! बिगाड़ा क्या तेरा ? यह दुःख दिया जीवन-भर को !
हरिश्चन्द्र किस तरह भक्ति के साथ वन्दना करते हैं ?
धर्म-कष्ट को कष्ट नहीं प्रभु का वरदान समझते हैं।

प्रभु-चिन्तन से निबट चले फिर काशी नगरी के पथ पर;
प्रथम दिवस की श्रान्ति चढ़ी है, पड़ते हैं पद रुक-रुक कर।
एक दूसरे से निज दुख को सभी छुपाये चलते हैं;
होगी चिन्ता व्यर्थ मानसिक, अस्तु, मौन ही रहते हैं।

रोहित पैदल, कभी गोद में चलता-चलता श्रान्त हुआ;
उधर भूख की पीड़ा से तन कोमल शिथिल नितान्त हुआ।
लज्जा के कारण पहले तो रहा दबाए अपने को;
कब तक दाबे रखता, आखिर बालक अड़ा कलपने को।

भूख लगी है, माँ! खाने को, बार-बार कह कर रोता,
देख विकलता, मात-पिता का अचल धैर्य भी चल होता।
तारा, मौखिक-आश्वासन से सुत को धीरज देती है;
पर बातों से कहो किसी की व्यथा शान्ति कब लेती है?

हरिश्चन्द्र ने दिये पुत्र को अर्ध पक्व वन-फल लाकर;
कब अच्छे लगने थे, फैंके, मौन रहा मन झुँझला कर।
सत्य-विरोधी पूर्व देव वह घात लगाये लखता था;
हरिश्चन्द्र अब कहाँ, किस तरह, मन के भाव परखता था।

हरिश्चन्द्र को वन में जाते देखा शान्त नितान्त अचल,
किन्तु बुभुक्षा की पीड़ा से रोहित देखा क्षुब्ध विकल।
वृद्धा का धर रूप, शीश पर रख कर मोदक की डलिया;
आया एक पार्श्व से डगमग करता, छलने को छलिया।

वृद्धा मोदक की डलिया को बार-बार दिखलाती है;
क्षुधा-विकल रोहित के मन को बार-बार ललचाती है।
सोचा—"राजा क्षुधित पुत्र के इसे तो हो माँगेंगे;
आज सर्वथा निश्चित है निज राज-धर्म को त्यागेंगे।"

हरिश्चन्द्र तारा अति दृढ़ हैं, भिक्षा का संकल्प नहीं;
कृष्ण-घटाओं में भी रवि का दब सकता है तेज कहीं ?
रहा सर्वदा देने के ही लिये हाथ जिनका ऊपर;
आज दुःख में पड़ कर भी क्या माँगेंगे कर नीचा कर ?

रोहित भी तेजस्वी क्षत्रिय-भावों में पलता आया;
जैसे मात-पिता, वैसा ही सुत भी जग में कहलाया।
धीर, वीर, तेजस्वी बालक स्वयं किसी से क्या माँगें ?
अगर स्वयं भी कोई दे तो ठुकरा कर सहसा भागें !

दो दिन का भूखा है रोहित क्या मजाल फिर भी माँगे;
बालक है, फिर भी रवि-कुल की मर्यादा कैसे त्यागे ?
छलिया देव हार कर आखिर लज्जित मुख हो चला गया;
राजा तो क्या, रोहित-सा शिशु भी न ज़रा भी छला गया !

सूर्य देव चढ़ते-चढ़ते चढ़ आये मध्य गगन-तल में;
प्रखर धूप के कारण ज्वाला लगी निकलने भूतल में।
तीव्र और उत्तप्त पवन भी दावानल-सा जलता है;
सन-सन करता, अङ्ग झुलसता, धूल उड़ाता चलता है !

भूपति गर्मी सह न सके आँखों में अँधियारा छाया;
ओष्ठ, कण्ठ थे शुष्क, प्यास से तन डोला चक्कर आया।
मूर्च्छा खाकर पड़े भूमि पर तारा रोहित घबराये;
हा-हा की ध्वनि गूँज उठी आँखों में अश्रु छलक आये।

तारा विचलित होते-होते सँभल गई दृढ़ साहस कर;
शीघ्र दौड़ कर इक ऊँचे से टीले पर देखा चढ़ कर।
कुछ दूरी पर दिया दिखाई एक सरोवर जल-पूरित;
तारा का सन्तप्त विकल मन हुआ हर्ष से परिपूरित।

शीघ्र दौड़ती हुई सरोवर के तट पर पहुँची रानी;
कमल-पत्र का पुटक बना कर सहसा भर लाई पानी।
रोहित इधर विमूर्च्छित नृप पर व्यजन पत्र का झलता है,
आकर देखा तो माता का स्नेही हृदय उछलता है।

शीतल जल के छींटों से भूपति की मूर्च्छा दूर हुई;
तारा के मन की क्या पूछो? आज खुशी भरपूर हुई।
हरिश्चन्द्र ने सावधान हो अमृत-सा जल-पान किया;
स्वस्थ-चित्त होकर तारा का श्री मुख से सम्मान किया!

"तारा तुम सचमुच देवी हो, क्षत्रिय-कुल की बाला हो;
संकट में भी धर्म न खोती, दृढ़ साहस की ज्वाला हो।
अगर आज तुम विचलित होती, नहीं समय पर जल लातीं;
सच कहता हूँ, हरिश्चन्द्र को फिर क्या दुनिया लखपाती!"

"भ्रान्ति-मूढ था, मैं तो तुमको साथ न अपने लाता था;
पत्नी के उन्नत गौरव को झंझट समझ भुलाता था।
किन्तु आज तुमने नारी का दिव्य रूप दिखला दीना;
चिर भविष्य के लिये समुज्वल नारि-जगत का मुख कीना।"

"नाथ, तुच्छ-सी दासी को क्या इतने पर, इतना गौरव ?
कार्याधिक यश-गौरव पाकर मिलता है निश्चय रौरव।
सूझ, समय पर आजाने से, बस जल ही तो लाई हूँ;
यदि इतना भी कर न सकूँ तो व्यर्थ सङ्ग फिर आई हूँ।"

"रानी ! तुमको वन का जीवन दुःख-पूर्ण लगता होगा;
हाँ, अवश्य यह सुख से दुख का परिवर्तन खलता होगा ?
मेरे कारण तुमको भी यह दुःख उठाना पड़ता है;
रोहित-से प्यारे सुत को भी संकट सहना पड़ता है।"

"नाथ ! दुःख की क्या कहते हैं ? सुख-दुख है खाली माया;
बाहर से सम्बन्ध नहीं कुछ, है अन्तर मन की छाया।
बाहर के सुख में भी दुख की काली घटा उमड़ती है;
कभी बाह्य दुख में भी सुख की मधुमय गंगा बहती है।"

"नाथ ! नगर के जीवन से तो वन का जीवन सुन्दर है;
काम, क्रोध, मद की झंझट से मुक्त प्रदेश, हितंकर है।
भारी-भरकम पुर-जीवन से कितना हल्का वन-जीवन;
वन्य प्रकृति के मुक्त पवन से स्वस्थ सबल होता तन-मन।"

वन-फल खाकर, दिन ढलते ही दम्पति का अभिमान चला;
अब की बार मधुर फल पाकर रोहित भी कुछ-कुछ सँभला।
तीनों प्राणी इसी तरह से वन-पथ के सुख-दुख सहते;
काशी गंगा-तट पर आए, प्रमुदित 'जयगंगे' कहते।

तीनों ने गंगा के शीतल, स्वच्छ सलिल में स्नान किया:
बैठ शान्ति से तट पर कुछ क्षण लहरों का आनन्द लिया।
उठतीं, गिरतीं, गिर कर उठतीं लहरें मन को भाती हैं;
सांसारिक परिवर्तन का वैराग्य-चित्र दिखलाती हैं।

गीत

गंगे, तुम्हारी धारा अविराम बह रही है;
कर्तव्य-शीलता का सन्देश कह रही है!
अचलों को चीर देती, टीलों को चूर्ण करती,
पथ की रुकावटों को दल-मल के बढ़ रही है!
आगे को चल पड़ी तो पीछे को लौटना क्या?
निज लक्ष्य पर पहुँचने निशि-दिन उछल रही है!
मिलते जो मैले जल से पूरित नदी व नाले;
अपना स्वरूप देकर सम सृष्टि रच रही है!
बहती जिधर, उधर ही होता हरा-भरा जग,
जल-राशि कर के अर्पण उपकार कर रही है!

मानव अगर चले इस आदर्श पर, 'अमर' हो;
गंगे, तू जिस पै इसका सुवितान तन रही है!

गीत

तुम्हारी है निर्मल यह जल-धार, गंगे!
हमारी है उज्ज्वल चरित-धार, गंगे!
हिमाचल से निकली मिली जा जलधि में;
पिता-गृह से हम भी पति-द्वार, गंगे!
नहीं जाती अन्यत्र सागर को तज कर;
हमें भी स्वपति का अचल प्यार, गंगे।
यह कल-कल सभी शान्त सागर में जाकर,
श्वशुर-घर यहीं हम कुलाचार, गंगे!
अलग है न अस्तित्व सागर में मिल कर:
पुरुष–नारि हम एक आकार, गंगे!

———

काशी में

हरिश्चन्द्र के सत्य की, है अति उज्ज्वल दीप्ति;
प्रभा-पूर्ण रवि-तेज भी होता क्षीण-प्रदीप्ति।

आज कौन काशी के पथ पर दीन-हीन यह जाता है;
नारी, सुत को साथ लिए अति रंक दृष्टि में आता है।
किन्तु अभी मुख-मंडल पर का तेज न अणु भी धुँधलाया;
जिसने, देखा उसने ही आश्चर्य अमित मनमें पाया।

आप बता सकते हैं क्या? यह कौन पुरुष है गुण-धारी;
हरिश्चन्द्र! जिनने कौशिक को सभी सम्पदा दे डारी।
एक सहस्र का ऋण अब भी है बाकी, उसको तारेंगे;
राजा से बन गए रंक, पर धर्म न अपना हारेंगे!
मानव चाहे कितना ही हो फँसा असह्य परिस्थिति में;
अन्तर का उद्दीप्त तेज छिपता न विपद की हुँकृति में।

लक्षाधिक नक्षत्र, गगन में निज-निज किरणें चमकाते;
किन्तु प्रभा शशि-मण्डल की फीकी न जरा भी कर पाते।

पथिकाश्रम की शोध लगाते एक ओर नरपति आए;
दिव्य राजसी तेज अलौकिक दीन-गात से लिपटाए।
संचालक ने देखा ज्योंही चकित हुआ मनमें भारी;
दीन-वेष यह फिर भी अनुपम सुन्दरता कैसी प्यारी ?

"आप कौन हैं और यहाँ किस अभिप्राय से आए हैं ?
वैभव-शाली जीवन पर क्यों दुख के बादल छाए हैं ?"

"श्रम-जीवी हम, एक शब्द में अपना अथ-इति का परिचय;
प्राप्त जीविका करने आए, स्थान चाहिए, देंगे प्रिय !"

"बहुत ठीक है, जैसा जितना स्थान चाहिए ले लीजे;
आप अतिथि हैं, अतः पूज्य, संकोच नहीं मनमें कीजे !"

"हम ग़रीब हैं, अस्तु विशिष्ट स्थान नहीं हमको लेना;
छोटी-सी कुटिया बतलादें, और किराया क्या देना ?"

"यहाँ किराया नहीं, धर्म-हित संचालित है सेवाश्रम;
दीन जनों को मुफ़्त स्थान औ भोजन का चलता है क्रम।"

"अगर किराया आप न लेंगे, और कहीं हम जाएँगे !
हम ग़रीब हैं, किन्तु धर्म का स्थान नहीं अपनाएँगे।"

आप लोग हैं दीन, किराया कहा कहाँ से पाओगे ?
इसका तो यह मतलब है, फिर भोजन-कष्ट उठाओगे ?"

"जो भी हो धर्मार्थ स्थान, या भोजन हम न कभी लेंगे;
मजदूरी कर भोजन लेंगे, और किराया दे देंगे।"

"क्या रक्खा है इन बातों में व्यर्थ दुराग्रह ठीक नहीं;
दीन-दशा में, अहंकार का निभ सकता है तेज कहीं ?"

"अहंकार की बात नहीं है, गृही धर्म का पालन है;
आदि जिनेश्वर ऋषभ देव का न्यायोचित अनुशासन है।
भिक्षा का अधिकारी मुनि है, सर्व परिग्रह का त्यागी;
शक्त गृही यदि भिक्षा माँगे, समझो उसको दुर्भागी।
पामर दुर्बल अंगहीन ही गृही पराश्रित रहता है;
शक्त गृही तो निज जीवन को निज श्रम पर ही रखता है।
मैं गरीब हूँ, किन्तु गृहस्थी हूँ, नहीं भिखारी का जीवन;
भूखा रह कर मर सकता हूँ, भ्रष्ट न होगा पर तन-मन।"

"पत्नी भी न करेंगी भोजन, यह तो तुम से भी दृढ़-तर;
पर बालक तो खाएगा ही, इसका क्या आग्रह प्रियवर !"

"नहीं, पुत्र भी खा न सकेगा, पिता पुत्र में क्या अन्तर ?
एक बार भी धर्म-दान का अन्न असंस्कृत देता कर।"

नृप की बातें सुन संचालक मन में बहुत प्रसन्न हुआ;
धन्य-धन्य हैं, संकट में भी नहीं धर्म अवसन्न हुआ।
अपने मुख से नहीं स्वयं का भेद पुरातन बतलाते;
पर बातों से उच्च दशा के स्पष्ट चिन्ह हैं दिखलाते।

हरिश्चन्द्र को संचालक ने एक कोठरी दिखलादी;
और किराये की निश्चिति भी अत्याग्रह पर बतलादी।
ठीक न समझा-'सद् गृहस्थ यह और कहीं धक्के खाए';
कैसा ही हो क्यों न समय पर सत्य न निष्फलता पाए।

हरिश्चन्द्र तारा से बोले "साफ करो गृह मैं जाता;
भोजन की सामग्री, कुछ कर उचित परिश्रम, हूँ लाता।
भूपति गए उधर, रानी ने इधर कोठरी साफ करी;
उचित किराये पर, आश्रम से पात्र-व्यवस्था ठीक करी।

तारा ने सोचा अब मन में-"पति नगरी में जाएँगे;
कष्ट-साध्य श्रम कर भोजन की सामग्री कुछ लाएँगे!
सामग्री लाने पर भोजन बना खिलाया तो क्या है?
पति-सेवा में, तारा तेरा फिर वैशिष्ट्य कहो क्या है?
श्रान्त-बुभुक्षित भी मजदूरी करने को प्रिय पति जाएँ;
हम निष्क्रिय ठंढी छाया में बैठीं पत्नी-सुख पाएँ।
मैं अर्द्धाङ्गिनि स्वामी की हूँ, वे राजा थे, मैं रानी;
आज बने मजदूर, बनूँ मैं मजदूरिनि क्या हैरानी?

मेरे पत्नी होने का तब ही होगा सार्थक जीवन;
जब मैं उनको आते ही सानन्द करूँ अर्पित भोजन।"

आस पास के धवल गृहों में रानी ने मजदूरी की;
बर्तन मल कर, पानी भर कर, सेवा सब की पूरी की।
गृहस्वामिनियाँ हुई हृष्ट अति भोजन की सामग्री दी;
रानी ने झट बना प्रेम से सर्व प्रथम रोहित को दी।
आप स्वयं भूखी है पति के आने की इँतजारी है;
पति के भोजन कर लेने पर ही पत्नी की बारी है।

गीत

धन्य तारा, धन्य तेरी जिन्दगी का राज है;
धन्य पतिव्रत, धन्य सेवा का सजाया साज है!
एक दिन थी जिसकी सेवा में हजारों दासियाँ
हाँ, वही कौशल की रानी नौकरानी आज है!
राज्य-वैभव भूल कर, कर्तव्य-पालन में लगीं;
अस्तु, श्रम के काम करने में न कुछ भी लाज है!
प्राण-पति जिस पथ चलें, पत्नी उसी पथ पर चले;
शास्त्र-कारों की हृदय में गूँजती आवाज है!
हो चुका कितना जमाना, फेर युग का लग गया;
अब भी तारा किन्तु तुझ से धन्य नारि-समाज है।

हरिश्चन्द्र भी मजदूरी कर भोजन की सामग्री ले;
आये हर्षित सुत-पत्नी के पास स्नेह अतिभारी ले।

पति के आते ही तारा ने कहा—"नाथ, भोजन कीजे;
दासी को करुणा के सागर, सेवा का अवसर दीजे।"

राजा विस्मित लगे पूछने—"सामग्री तो मैं लाया:
मुझ से पहले ही यह भोजन देवि! कहाँ तुमने पाया?"

"प्रभो, आप भोजन तो कर लें, दृढ़ विश्वास दिलाती हूँ;
सब विधि न्यायोपार्जित ही यह भोजन आज खिलाती हूँ।"

पूर्ण हुआ जब दम्पति का वह स्नेह भरा सात्विक भोजन;
फिर बातों-बातों में आया श्रम वर्णन, उसका अर्जन—

"नाथ, आप भी यह सामग्री कहो कहाँ से लाये हैं;
मजदूरी से ही न? इसी पथ मैंने कदम बढ़ाये हैं।
अगर आप मजदूर बने फिर मुझको लज्जा सहना क्या?
धर्म-कर्म के, न्याय-नीति के जीवन की अवगणना क्या?
एकमात्र पति-धर्म शास्त्र ने पत्नी का बतलाया है;
अस्तु, नाथ! दासी ने भोजन मजदूरी से पाया है।
गृही जनों की नीति यही है कुछ तो घर में संचय हो;
ताकि समय पड़ने पर मानव कुछ दिन तक मन-निर्भय हो।

आज आपकी यह सामग्री शेष रहेगी कल दिन को;
इसी तरह से जुड़ते जुड़ते जुड़ जायेगी कुछ दिन को।
अपने श्रम पर हमें भरोसा अब क्या चिन्ता करनी है ?
दोनों मिलकर काम करेंगे, संकट-सरिता तरनी है।"

हरिश्चन्द्र यह रानी का वक्तव्य श्रवण कर चकित हुए;
तारा की पति-भक्ति, शक्ति, कर्तव्य-वृत्ति पर मुदित हुए।

"देवी ! तुमने तो साहस की अन्तिम सीमा पार करी;
राज महल की रानी होकर मजदूरी स्वीकार करी।
सहज-दुर्बला, गृहबद्धा, मृदु रमणी जग में मानी है;
किन्तु तुम्हारी श्रम सहने की क्षमता तो लाशानी है।
हरिश्चन्द्र तो क्षुधा-तृषा से, पथ-क्लांति से त्रस्त हुआ;
अटल धैर्य का दुर्ग तुम्हारा किन्तु न अणु-भर ध्वस्त हुआ।"

"देव ! तुम्हारी करुणा है, दासी तो केवल दासी है;
धैर्य और यह साहस सब श्री चरणों का विश्वासी है।
देख आपकी ही दृढ़ता बस मैंने भी दृढ़ता धारी;
नर के स्वीकृत कृति के पथ पर चलती है जग में नारी।"

धन्य-धन्य तू भारत-माता धन्य तुम्हारी सन्तति है;
कैसी उज्ज्वल क्रान्तिमयी तव सन्तति की मति सन्मति है।
भारत का गौरव भारत की सन्तति के ही कारण है;
भीषण संकट में साहस का कैसा दृढ़ व्रतधारण है।

स्वर्ण-महल के वासी अब छोटी-सी कुटिया में रहते;
रूखा सूखा भोजन पाते मजदूरी के दुःख सहते।
कितना साहस, कितनी दृढ़ता, फिर भी जरा न घबराते;
स्नेह-मूर्ति पति-पत्नी दोनों दुख में भी सुख ही पाते।

मानव आखिर मानव है, कुछ दुख में होश नहीं रहता;
धर्म-कर्म के नियम भूल कर भ्रान्ति-तरंगों में बहता।
हरिश्चन्द्र, तारा तो मानव होकर भी अति-मानव हैं;
सत्य, धर्म के लिए हर्षयुत कष्ट सह रहे अभिनव हैं।

भिक्षा या अनुचित पद्धति से ग्रहण न करते भोजन भी;
सत्य-धर्म से तन क्या डिगना, डिगता है न कभी मन भी।
सत्य कहा है सत्पुरुषों का असि-धारा-सा जीवन है;
न्याय-वृत्ति से पतित न होते संकट में न प्रकम्पन है।

राजा कला-कुशल थे फलतः काम ठीक ढँग से करते;
कार्य-कुशलता की शिक्षा नित मजदूरों को भी करते।
स्वामी और सभी श्रमजीवी भूपति का करते आदर;
कैसी भी हो दशा, गुणों से पूजा पाता है नर-वर।

ऋण-चिन्ता

हरिश्चन्द्र के सत्य का यह उज्ज्वल आदर्श;
कभी उपेक्षा का नहीं ऋण के प्रति हो स्पर्श।

हरिश्चन्द्र की जीवन-यात्रा सुख के साथ गुजरती है;
तन पर, मन पर पूर्णतया अब श्रम की दीप्ति चमकती है।
कौशल के वैभव की छाया जरा न आती स्मृति-पथ में;
बढ़े जा रहे, सब कुछ पिछला भूल, सत्य के सत्पथ में।

किन्तु, दक्षिणा के ऋण का जब कभी ध्यान आ जाता है;
रोम-रोम में एक प्रबल तूफान खड़ा हो जाता है।
एक सहस का ऋण है शिर पर, पास नहीं इक पैसा है;
निकट अवधि है, क्रुद्ध तपस्वी, संकट उत्कट कैसा है?

तारा चिन्तित होती पति के मुख पर देख निराशा को;
पति के साथ-साथ पत्नी भी भूली सभी शुभाशा को।

अन्दर ही अन्दर मानस में रोती आहें भरती है;
स्वामी के कल्याण-हेतु शत-सहस प्रार्थना करती है।

साहस भर कर कभी हृदय में कहती—"क्या चिन्ता स्वामी ?
ऋण से मुक्ति मिलेगी, शिर पर संरक्षक अन्तर्यामी।
चिन्ता कर-कर तो निज तन को दुर्बल अधिक बना लेंगे;
स्वस्थ रहे तो किसी तरह से कमा, दक्षिणा दे देंगे।"

हरिश्चन्द्र ने कहा—"प्रिये, ऋण-मुक्त बनेंगे हम कैसे ?
आय तुच्छ है उदर पूर्ति भर, मुद्रा सहस चुके कैसे ?
राज्य-त्याग का मेरे मन में दुःख नहीं है अणुभर भी:
किन्तु हृदय में ऋण चिन्ता से शान्ति न मिलती क्षणभर भी।"

"नाथ ! ठीक है सत्यव्रती के लिये सत्य ही सब कुछ है;
सच्चे क्षत्रिय के मन में तो अपना प्रण ही सब कुछ है।
राज्य-त्याग का प्रण पूरा कर दिया, पूर्ण यह भी होगा;
स्पष्ट हृदय है, दंभ न कुछ भी, ऋण का भार अदा होगा।
सत्य-हीन दंभी मानव का नहीं निवट ऋण पाता है;
सत्यव्रती के लिये स्वयं ही द्वार कहीं खुल जाता है।"

तारा के ओजस्वी प्रवचन, भूपति को धीरज देते;
व्याकुल मन को इसी तरह से कभी-कभी समझा लेते।
योग्य सहचरी पाकर नर का हो जाता है दुख आधा;
पत्नी हो यदि कुटिल-कर्कशा सुख में भी दुख की बाधा।

पाठक ! देख रहे हैं कैसे धनी सत्य के पूर्वज हैं;
विश्व-गगन में ऊँचे उड़ते कैसे दिव्य विजय-ध्वज हैं ?
जीवन ओत-प्रोत है कैसा सत्य-धर्म की विद्युत से;
सब कुछ भूले, सत्य न भूले, रहे सत्य पर प्रस्तुत से।

आज कलियुगी मनुज स्वयं ऋण लेकर भी हैं नट जाते;
देने की हो शक्ति, अँगूठा फिर भी साफ दिखा जाते !
मानवता की शुभ्र ज्योति पर अन्धकार कैसा छाया !
घर में सब कुछ रख, ऊपर से चली दिवाले की माया !

हरिश्चन्द्र पर कौशिक का ऋण क्या कुछ कीमत रखता है ?
कैसा ऋण, बस वचन मात्र से बँध विपत्ति में फँसता है।
यदि वह चाहे तो नट जाए, बुरा न कोई उसे कहे;
किन्तु सत्य की मूर्ति, झूठ के सागर में किस तरह बहे ?

एक दिवस साहस कर भूपति बाजारों की ओर चले;
'नौकर रह कर ऋण देंगे,' बस सेठों की ओर ढले।
तन चलता है, किन्तु पड़ा है लज्जा का घेरा मन पर;
अस्तु, विपणि के इधर-उधर से कई बार काटे चक्कर !

आखिर मन को कड़ा बना कर, एक सेठ के द्वार गया:
हरिश्चन्द्र के जीवन में था यह प्रसंग आमूल नया।
सम्मुख होते ही श्रेष्ठी ने कहा—"अरे क्या लेना है ?
तेरे जैसे भिखमंगों को नहीं मुझे कुछ देना है।"

यह सुनते ही हरिश्चन्द्र के मुख पर छाई अति व्रीड़ा;
कोटि-कोटि वृश्चिक-दंशों-सी हुई मर्म-वेधक पीड़ा।
कालचक्र की महिमा लखकर तिरस्कार सब सहन किया;
गर्वोद्धुर-कंधर श्रेष्ठी को उत्तर स्पष्ट विनम्र दिया।

"रंक, बुभुक्षित हूँ, सब कुछ हूँ, किन्तु नहीं मैं भिखमंगा;
प्रलय काल भी आजाए, पर बह न सके उलटी गंगा।
क्षत्रिय हूँ, इक खास बात के लिये समय कुछ लेना है;
व्यर्थ सेठजी मुझे आपको कष्ट नहीं कुछ देना है।"

कहा सेठ ने—"अच्छा, जल्दी कहो तुझे जो कुछ कहना;
पर मुझसे पाने की आशा में न ज़रा भी तुम रहना!"

भूपति ने तब कहा—"सेठजी, नौकर मुझको रख लीजे;
क्रय, विक्रय या लिखना पढ़ना, सेवा मन चाही लीजे।
क्षत्रिय हूँ, अतएव सर्व-विधि रक्षा भी कर सकता हूँ;
चोर और डाकू के संकट पलभर में हर सकता हूँ।
मुझ पर कुछ ऋण चढ़ा हुआ है, वह सब आप चुका दीजे;
जब तक हो न अदा ऋण, मुझको सेवक आप बना लीजे!
मेरा जो भी वेतन होगा, जमा स्वऋण में कर दूँगा;
और आपसे भोजन आदिक व्यय न कभी कुछ भी लूँगा।"

"अच्छा, व्यय न तुझे कुछ लेना, बतला फिर क्या खाएगा?
भूखा रह कर कैसे अपना तू गुजरान चलाएगा?"

"भोजन वस्त्र आदि की चिन्ता मुझे नहीं बाधित करती?
मेरी पत्नी मजदूरी कर उचित व्यवस्था खुद करती।"

'कितना ऋण है तुझ पर बतला?' सहस स्वर्ण की मुद्रा का।'
'क्या खेला था जुआ?' नहीं मैं भागी इस अपमुद्रा का।'

"मामूली ऋण नहीं, बता फिर कैसे इतना ऋण आया?
फँसा किसी दुर्व्यसन-जाल में निज सर्वस्व लुटा आया?"

"स्वप्न-लोक में भी न व्यसन का स्पर्श कभी होता मुझको;
मात्र दक्षिणा-ऋण ब्राह्मण का, कहा हुआ देना मुझको।"

"दानवीर हो बड़े धुरंधर, रूप तुम्हारा बतलाता;
कैसे तुझको नौकर रक्खूँ, मेरा मन है शर्माता!"

"भाग्य-चक्र का परिवर्तन है, अब क्या मुझ पर हँसिएगा,
अच्छा कुछ भी कहें, कृपा है, नौकर तो हाँ रखिएगा!"

"कैसे नौकर रक्खूँ तुझको नहीं समझ में कुछ आता;
सहस स्वर्ण की मुद्राओं का व्याज न वेतन दे पाता।
सारे जीवन में भी तुझसे ऋण न पूर्ण यह हो सकता;
जा, अपना कर काम, व्यर्थ ही काम हमारा है रुकता।
आज सहस मुद्राएँ ले ले, यदि कल को तू भग जाए;
कहाँ ढूँढते फिरें, पता फिर कहीं नहीं तेरा पाए?"

"अजी, सेठजी ! क्या कहते हो ? सेवा से भग जाऊँगा ?
क्षत्रिय होकर क्या मैं अपने प्रण-पथ से हट जाऊँगा ?
आप पूर्ण विश्वस्त रहें, मैं कौड़ी शेष न रक्खूँगा;
अदा करूँगा ऋण, यह जीवन सारा यहीं बिता दूँगा !"

"चल, हट, जगह छोड़, धूर्त ! क्या मूर्ख समझता है हमको;
और किसी को फँसा जाल में, फँसा नहीं सकता हमको।
तेरे जैसे धूर्त-शिरोमणि, कितने आते-जाते हैं;
सज्जनता का ढोंग दिखाकर माया-जाल बिछाते हैं !"

बड़ा दुःख है, बड़ा कष्ट है, धनवालो ! क्या करते हो ?
दीन-दुखी का हृदय कुचलते, नहीं जरा भी डरते हो ?
लक्ष्मी का क्या पता, आज है, कल दरिद्रता छा जाए;
दो दिन की यह चमक चाँदनी किस पर तुम हो गरवाए ?
लक्ष्मी का वैभव मानव की आँखें अन्धी कर देता;
मक्खी, मच्छर दुनिया को, खुद को गजराज समझ लेता।
संस्कृति और सभ्यता उसके पास न आने पाती है;
मानवता सब भाँति विलज्जित अपमानित हो जाती है।
धन-दौलत पाकर भी सेवा अगर किसी की कर न सका;
दयाभाव ला, दुःखित दिल के जख्मों को यदि भर न सका।
वह नर अपने जीवन में सुख शान्ति कहाँ से पाएगा ?
ठुकराता है जो औरों को स्वयं ठोकरें खाएगा ?

गीत

मनुष्य बन लगा दौड़, विषयों से मुख मोड़;
भूल न जाना, ओ प्राणी, भूल न जाना!

जीवन है इक लहर सिन्धु की, इत आए, उत जाए;
धर्म-कर्म कुछ किया न जिसने, वह पीछे पछताए;

नरक में मिले ठौर, पावे दुख अति घोर;
मन कलपाना, ओ प्राणी, भूल न जाना!

पाकर कुछ चाँदी के टुकड़े, काहे ज़ोर दिखाए;
कौड़ी संग चले कब तेरे, किस पर शोर मचाए;

आवे कोई द्वारे दुखी, शीघ्र बनाना सुखी;
जग-यश पाना, ओ प्राणी, भूल न जाना!

बड़े-बड़े राजा महाराजा, आए जग पर छाए;
लगा काल का चपत अन्त में ढूँढे खोज न पाए;

तू तो सीधा बन चल, काहे करे कल-कल;
गर्व नशाना, ओ प्राणी, भूल न जाना!

भक्ति-भाव से झूम-झूम कर क्यों न ईश गुण गाए;
शुष्क हृदय में अमर प्रेम का क्यों न सुरस बरसाए;

पाप-मल सारे छूटें, दुख-द्वन्द्व सभी हटें;
'जिन' बन जाना, ओ प्राणी, भूल न जाना!

हरिश्चन्द्र अपमानित होकर वापस ही गृह लौट गए;
एक नमूना देख लिया बस, आगे और कहीं न गए।
कुचल दिया मन के कण-कण को इस अत्युग्र अवज्ञा ने;
बड़ी विकट उलझन में डाला, ऋण की क्रूर समस्या ने !

तारा को जब पता लगा तो मन में शोक उमड़ आया;
फिर भी दृढ़ होकर भूपति को धैर्य-भाव ही दिखलाया।

"नाथ ! विपद् में कौन किसी का ? दुनिया बड़ी दुरंगी है:
धैर्य कीजिए, काल-चक्र की चाल विचित्र कुढंगी है।
संकट के दिन सदा न रहते, सुख के भी दिन आएँगे;
काले बादल नभ में कब तक रवि का घेरा पाएँगे ?
श्रेष्ठी का कुछ दोष नहीं है, भला हमें वह क्या जाने ?
दीन-वेष को देख कौन जन मन की प्रभुता को माने ?
जग में कहाँ किसी का परिचय बिना समादर होता है;
वनेचरों के घर हीरों का नित्य निरादर होता है।"

तारा की श्रुति-मधुर उक्तियाँ सुनकर भूपति दुख भूले;
पति-परायणा पत्नी का मृदु स्नेह-भाव पाकर फूले।
किन्तु अग्नि पर रखा दुग्ध उत्तप्त अतीव उबलता हो;
जल के छींटों से कब तक के लिये शान्ति शीतलता हो ?

राजा की भी यही दशा है दिल में आग भड़कती है;
ऊपर के मधु वचनों से वह शान्त कहाँ हो सकती है ?

ज्यों-ज्यों अवधि निकट आती है, चिन्ता-वेग प्रबल होता;
शोक-सिन्धु में अचल साहसी भूपति भी खाता गोता।

भोजन छूटा, निद्रा छूटी, चिन्ता से उन्मत्त हुआ;
हँसी-दिल्लगी छूट गई सब, हृदय शोक-संतप्त हुआ!
तारा भी इस बार दूर पति की व्याकुलता कर न सकी;
शून्य-लक्ष्य-सी बनी, आप ही साहस मनमें भर न सकी।

अन्धकार ही अन्धकार अब चारों ओर नज़र आया;
आशा की आभा का ढूँढे से भी चिन्ह नहीं पाया।
राज महल को तजने से भी धैर्य नहीं जो भंग हुआ;
पति को चिन्ता-ग्रस्त देख, पर, आज रंग बदरंग हुआ।

बार-बार प्रभु के चरणों में दीन प्रार्थना करती है;
कुछ रोदन से, कुछ चिन्तन से मन को हलका करती है।

विश्वामित्र का तकाज़ा

त्यागी, योगी, सद्गुणी, वन्दनीय विद्वान;
दुराग्रह के फेर में बन जाता शैतान !

गंगा की बहती जल-धारा, एक मिनट को रुक जाये;
संभव है, गतिमान पवन भी चन्द श्वास को थम जाये।
कालचक्र निज निश्चित गति में, पर विश्राम नहीं लेता;
पल, पलार्द्ध, या क्षण, क्षणार्द्ध का भी अवकाश नहीं देता।

समय, किसी को कभी जगत में नहीं प्रतीक्षा करता है;
एक बार निश्चित कर लीजे, फिर आ स्वयं धमकता है।
हरिश्चन्द्र ने ऋण-शोधन के लिये न इक पैसा पाया;
ऋण-परिशोध-अवधि का अन्तिम दिवस किन्तु सहसा आया।
आज भूप की हृदय-व्यथा ने उग्र रूप धारण कीना;
प्रलय-काल-सा अन्धकार चहुँ ओर, हुआ दुर्भर जीना।

बार-बार दृढ़ होकर भूपति, निज मन को समझाता है;
ऋण-चिन्ता का शल्य चित्त से तदपि न हटने पाता है।

भोजन का है समय, पात्र में भोजन लाई है रानी;
भूपति चिन्तातुर, क्या खाएँ, बड़ी विकट है हैरानी।
खाने की क्या बात ? हाथ से छूने तक का काम नहीं;
मन की व्याकुलता में मिलता भोजन में आनन्द कहीं ?

तारा के नेत्रों से अविरल बहती हन्त ! अश्रु-धारा;
ज्वाला मुखी हृदय में फटता, शून्य विश्व मंडल सारा।
रोहिताश्व निःस्तब्ध मूक-सा खड़ा कुटी के कोने में;
साथ दे रहा है माता का, क्षुब्ध भयाकुल रोने में।

विश्वामित्र द्वार पर इतने ही में आकर ललकारे;
वज्रपात सम तीनों प्राणी काँप उठे भय के मारे।
की न प्रतीक्षा एक दिवस की, ऐसा अविश्वास छाया;
ओ निर्दय ! निष्करुण ! तपस्वी ! झट काशी दौड़ा आया।

हरिश्चन्द्र ने शीघ्र सँभलकर किया प्रणत विधि से वन्दन;
कर फैला कर कौशिक ने झट किया घोर स्वर से गर्जन !

"रहने दे बस भक्ति-प्रक्रिया, बात दक्षिणा-ऋण की कर;
डाल राज्य की झंझट, ऋषि को खूब सताया जी भरकर।
सहन किया, बस अब न सहूँगा, अधिक सता कर क्या लेगा ?
मास-पूर्ति में कितने दिन हैं शेष ? दक्षिणा कब देगा ?"

हरिश्चन्द्र क्या उत्तर देते ? नत मस्तक हो खड़े रहे;
अन्तर मन में व्याकुलता के भाव भयंकर अड़े रहे।
हरिश्चन्द्र आजन्म गोद में सुख की सोने वाले थे;
ऋण की विकट यंत्रणाओं के समझे नहीं कसाले थे !

किन्तु आज हा मर्म-मर्म में पीड़ा थी कितनी भीषण !
गिरे जा रहे थे पृथ्वी पर व्याकुलता बढ़ती क्षण-क्षण !

"हाय आज है दर-दर का भिखमंगा भी अच्छा हम से;
रूखा-सूखा खा लेता है, किन्तु मुक्त ऋण के गम से !
अगर आज मैं ऋणी न होता तो इस पर्ण-कुटी में ही;
कष्ट झेलकर भी आनन्दित रहता इस त्रिपुटी में ही !
दुख से, सुख से किसी तरह से जीवन-शेष बिता देता;
अपमानों की वर्षा अपने मस्तक पर न कभी लेता।"

हरिश्चन्द्र को मौन देखकर बोले फिर कौशिक ऋषिवर;
"दानी हरिश्चन्द्र क्यों चुप हो ? अरे तनिक तो दो उत्तर ?
एक मास में ऋण-शोधन की गर्व-प्रतिज्ञा पूर्ण करो;
आज आखिरी दिन है, क्षत्रिय-धर्म न अपना चूर्ण करो।"

हरिश्चन्द्र अब भी नीरव था किंकर्तव्य-विमूढ खड़ा;
दृष्टि भूमि-तल भेद रही थी, उत्तर कुछ ना सूझ पड़ा।
बड़ी कठिनता से अनुनय कर एक मास का समय लिया;
वह भी आज समाप्त प्राय है, ऋण-शोधन कुछ भी न किया।

"राजन् ! मैं निर्द्वन्द्व तपस्वी हूँ, मत तप में विघ्न करो;
आज अवधि है पूर्ण, शीघ्र हल ऋण-शोधन का प्रश्न करो !
अब है कठिन तुम्हारे पीछे-पीछे अधिक घूम सकना;
साधू हूँ, बस भला न लगता है इससे बकना झकना !"

"बार-बार कर व्यङ्ग प्रश्न, क्यों ऋषिवर लज्जित करते हो ?
छिपा हुआ कुछ नहीं आप से व्यर्थ तिरस्कृत करते हो ?
कौड़ी भी लेकर न अयोध्या नगरी से मैं आया हूँ;
निरावलम्ब, रिक्त कर, पत्नी-पुत्र साथ में लाया हूँ।
भोजन की भी नहीं व्यवस्था मजदूरी करके खाते;
आप बताएँ सहस्र स्वर्ण मुद्रा का द्रव्य कहाँ पाते ?
मैं तो मानव हूँ, देवों को भी कुछ कम यह विपत नहीं;
कृपा कीजिए, सदय हूजिए, मर्म-वेदना उचित नहीं।"

"अच्छा राजन ! मैं प्रसन्न हूँ स्पष्ट बात कह दी तुमने;
अन्दर की चिर-रुद्ध धूर्तता, आज प्रगट कर दी तुमने।
अगर प्रथम ही कह देता तो फिर क्यों यह झगड़ा होता;
वैभव-शाली राजमुकुट का खेल नहीं बिगड़ा होता ?
मिथ्या आशा में इतने दिन व्यर्थ भ्रान्त चक्कर खाया;
आज मिली निष्कृति, क्षत्रिय का धन्य भाग्य परिचय पाया !
अरे सत्य की डींग हाँकते जरा न तुम शर्माते थे;
इसी सत्य पर क्या बढ़-बढ़ कर उस दिन ऐंठ दिखाते थे ?"

"भगवन्! क्या कहते हैं? इसमें कौन धूर्तता मेरी है?
सत्य परिस्थिति वर्णन करदी, क्या जघन्यता मेरी है?
अगर कहो तो हृदय चीर कर दिखला दूँ अपना तुमको;
झूठ, दंभ, मिथ्या का अणु भी दाग़ न मिल सकता तुमको!
हरिश्चन्द्र सब खो सकता है, सत्य नहीं वह खोएगा;
सत्य-पूर्तिके लिए यंत्रणा कोटि-कोटि, शिर ढोएगा।
अब भी क्या बिगड़ा है स्वामी पूर्ण तुम्हारा ऋण होगा;
हरिश्चन्द्र कर सत्य-धर्म की रक्षा आज अनृण होगा!"

"रहने दे इन बातों में क्या रक्खा है, खाली हठ है;
काल-चक्र शिर घूम रहा है, फिर भी कूद रहा शठ है।
सत्य-वीरता का हाँ, अब भी नशा न मन से उतरा है:
कौशिक के प्रलयंकर तप का क्या न तुझे कुछ खतरा है?
समझा क्या है तूने मुझको, बिगड़ा बहुत बुरा हूँ मैं;
लल्लो-चप्पो मुझे न अच्छी लगती, स्पष्ट खरा हूँ मैं!
अगर चुकाया ऋण न आज तो तुम्हें भस्म कर दूँगा मैं:
रवि के छुपते ही रवि-कुल का नाम खत्म कर दूँगा मैं।"

कौशिक का मुख-मण्डल भीषण देख हुई कम्पित तारा;
एक बार तो हुआ पूर्ण अवसन्न देह का बल सारा!
किन्तु शीघ्र सँभली मानस में दौड़ी साहस की बिजली;
हाथ जोड़ कर, नम्र भाव से करी प्रार्थना नपी तुली!

"भगवन् ! क्या ऋण की कहते हैं ? ऋण अवश्य ही देना है;
भला आपसे सन्तों का ऋण मार, नरक क्या लेना है ?
अगर पास कुछ होता तो इन्कार नहीं था देने में;
अश्रुमात्र हैं शेष, समर्पित चरणों के धो-लेने में !
जबकि राज्य के देने में भी देर न की, अब क्या करते ?
आप देखिए, रिक्त-हस्त हैं, करते भी तो क्या करते ?
करुणा सागर ! क्षमा कीजिए, अवधि और कुछ दे दीजे
ब्याज सहित फिर सभी दक्षिणा कौड़ी-कौड़ी ले लीजे !
आप तपस्वी, कोपानल से भस्म हमें कर सकते हैं;
पर, इससे क्या झोली अपनी ऋण-धन से भर सकते हैं ?"

विश्वामित्र गर्ज कर बोले—"धन्य-धन्य तुम भी बोली ?
धूर्त शिरोमणि पति-पत्नी की मिली ख़ूब सुन्दर टोली !
पास तुम्हारे है कि नहीं है, मुझको इससे क्या मतलब ?
अवधि एक पलकी न बढ़ेगी, अभी दक्षिणा लेनी अब !"

"आप सन्त हैं बिना बात ही क्यों इतने क्रोधित होते ?
चिर-संचित निज तपःसाधना क्यों अशान्त बनकर खोते ?
आप महाजन, ऋणी आपके हम, सम्बन्ध मधुर कितना ?
कुशल प्रश्न तो रहा दूर, कर क्रोध न करें विकृत इतना !
पास हुए पर अगर न देते फिर था क्रोध उचित करना;
व्यथित-हृदय को कटु-वाणी से उचित न और व्यथित करना !"

"मैं तुमसे ऋण माँग रहा हूँ, नहीं ज्ञान-भिक्षा लेता;
करुणावश ही चुप हूँ, वर्ना भस्म कभी का कर देता।
जिह्वा क्या है, कैंची चलती, बहुत बोलना आता है;
कौशिक का तो तुमसे बातें करते दिल घबराता है।
तब तो हठ-वश राज्य दे दिया और दक्षिणा की स्वीकृत;
आज रो रहे, तब न विचारा, कैसी है जड़ता निन्दित!
अगर नहीं कुछ देने को तो क्षमा, दोष स्वीकार करो;
राज्यपाट वापस देता हूँ क्यों नाहक दुख-कष्ट भरो?"

"क्षमा करें, मैं स्पष्ट बता दूँ, व्यर्थ न भ्रम में रहिएगा;
सत्य-त्याग की बात छोड़ कर और भले कुछ कहिएगा।
अद्यावधि क्या-क्या अति भीषण कष्ट सहे जिसके कारण;
आज त्याग दें उसी सत्य को, बात नहीं यह साधारण!
राज्य प्राप्ति का लोभ न उनको केवल लोभ सत्य का है;
क्या जागृत, क्या स्वप्न, सर्वदा आग्रह अटल सत्य का है!"

हरिश्चन्द्र भी सत्य-त्याग की बात श्रवण कर क्षुब्ध हुए;
कौशिक ऋषिवर से बोले यों सत्य-सूत्र में बद्ध हुए।

गीत

मैं कैसे समुज्ज्वल सत्य का आदर्श भुला दूँ?
हाँ क्यों कर पतन के गर्त में अपने को गिरा दूँ?

दोधूयमान अब भी है जिसकी विजय ध्वजा;
गौरव क्या सूर्य-वंश का मिट्टी में मिला दूँ ?
सर्वस्व भेंट दे दिया जिस सत्य के लिए;
क्या आज शीश सत्य का इस ऋण पै झुका दूँ ?
घबरा के घोर संकटों से क्या सत्य छोड़ूँगा;
वेदी पै सत्य धर्म की यह शीश चढ़ा दूँ !
मर्यादा चन्द्र सूर्य की प्रध्वस्त भले हो;
संभव नहीं मैं सत्य से अपने को डिगा दूँ !

अब क्या था, ऋषि हुए और भी गर्म, क्रोध-कंपित स्वर में—
बोले मानों बिजली कड़की घोर गरजते जलधर में।

"हाँ अभिमान अभी बाकी है, ऐंठ न मनकी निकली है;
स्थापित भूत सत्य का शिर पर, शक्ति समझ की हरली है।
पकड़े रखिए पूँछ सत्य की मुझे छुड़ा कर क्या लेना ?
सौ बातों की एक बात है, बोल दक्षिणा कब देना ?
'हाँ-हाँ/ना-ना' का अभिनय यह देख न सकता हूँ मैं और;
शीघ्र दक्षिणा दे दो; वर्ना त्रिभुवन में न मिलेगा ठौर !"

तारा ने अति नम्र भाव से हाथ-जोड़ कर प्रणति करी;
कातर कण्ठ स्वर से कौशिक ऋषिवर से यों विनति करी!

"दीनबन्धु, करुणा के सागर, क्षमा कीजिये कुपित न हों;
आप सन्त हैं, हम गृहमेधी मर्यादा से पतित न हों।

प्रश्न नहीं है यहाँ मुकरने का, मजलूमी है उलझन !
पास नहीं है कौड़ी तक भी, सहस स्वर्ण मुद्रा का ऋण?
अगर नहीं विश्वास आपको अभी तलाशी ले लीजे;
अन्दर जाकर कुटिया में से जो मन चाहे ले लीजे !
आप अनुभवी, ज्ञानी, योगी, दयाभाव हम पर लाएँ;
ऋणमोचन का, सत्य त्याग के सिवा, मार्ग कुछ बतलाएँ ?"

"तारा मैं समझा था पहले–तुम कुछ तत्व परखती हो;
बुद्धिमती हो, समझदार हो, नहीं अधिक हठ रखती हो।
आज चल गया पता कि तुम तो भूपति से भी बढ़कर हो;
बाहर कोमल, किन्तु वज्र-सी कठिन हृदय के अन्दर हो !
भूपति यदि कुछ मानें तो भी तुम न मानने देती हो;
सत्य-सत्य की रट में ऋण का हल न समझने देती हो।
क्या उपाय बतलाऊँ, तुम हो पतिव्रता पति-हितकारी:
क्यों न स्वयं को बेंच, मेट दो भूपति की विपदा सारी।"

तारा यह सुनकर न जरा भी क्षुब्ध तथा संत्रस्त हुई;
आलोकित हो उठा कर्म-पथ, अँधियाली विध्वस्त हुई।
अगर आज की नारी होती मुँह बिचका गाली देती;
साथ संकटापन्न प्राण-पति की भी खूब खबर लेती।

"धन्य धन्य, श्रद्धेय ऋषीश्वर ! ठीक मार्ग बतलाया है;
ऋण-परिशोधन की गुत्थी का सिरा समझ में आया है।

भूलेगी उपकार आप का नहीं स्वप्न में भी तारा;
कोटि कोटि चरणों में वन्दन, मेट दिया संकट सारा।
अभी आपका ऋण चुकता है, रवि के छिपने से पहले;
तारा, पति को मुक्त करेगी भले कोटि संकट सहले।"

तारा का मुख चन्द्र हर्ष की दिव्य ज्योति से चमक उठा;
रोम-रोम में नवोत्साह का नाद जोर से गमक उठा।

कौशिक चकित विलज्जित मन में, नारि नहीं, यह तो है शक्ति;
रोष-क्लेश का नाम नहीं है, कैसी अनुपम पति की भक्ति।

———

आत्म-विक्रय

हरिश्चन्द्र का सत्य पर कितना दृढ़ विश्वास;
बने स्वयं को बेच कर भंगी के घर दास।

भारतीय इतिहास-जगत में यह इक अमर कहानी है;
कालचक्र की प्रखर प्रगति भी मेट न सकी निशानी है।
क्या गाँवों, क्या शहरों में सब ओर सत्य महिमा फैली;
हरिश्चन्द्र की जीवन-रेखा कभी नहीं होगी मैली!

केवल वचन मात्र का प्रण है, इस पर राज्य विभव छोड़ा;
वंश परम्परा-प्राप्त स्वर्ण के आसन से नाता तोड़ा।
सत्य-धर्म की रक्षा के हित कष्टों से न झिझकता है;
कौशल का सम्राट आज सानन्द विपणि में बिकता है!

तारा ने कौशिक का ज्योंही कटुक व्यङ्ग स्वीकार किया;
दासी बन कर सत्य पूर्ति का अग्नि-मार्ग स्वीकार किया!

हरिश्चन्द्र के मन पर त्योंही घोर वज्र विनिपात हुआ;
मूर्च्छा खाकर पड़ा धरणि पर, मानों पक्षाघात हुआ !

मानव आखिर मानव है, सहसा न कष्ट सह सकता है;
देख स्वपत्नी बिकते, आखिर कौन अचल रह सकता है !
हरिश्चन्द्र की आँखें निष्प्रभ, दृष्टि-शक्ति परिलुप्त हुई;
अङ्ग-अङ्ग की अखिल चेतना-शक्ति सर्वथा सुप्त हुई !

तारा की आँखों में पति की दशा देख आँसू आए;
रोहित चीख उठा, हा, उसके कोमल तन-मन कुम्हलाए !
रानी की परिचर्या से जब दूर मूर्च्छना हुई ज़रा;
हरिश्चन्द्र तारा से बोले शोकानल आकण्ठ भरा !

"तारा ! तुम क्या कहती हो यह ? क्या अपने को बेचोगी ?
कौशल की सम्राज्ञी, दासी बन कर संकट झेलोगी ?
तुम्हें बेच कर कर्ज चुकाऊँ मुझसे यह न कभी होगा;
पत्नी-विक्रय के अघ से तो अच्छा मरना ही होगा।"
"गर्वी राजा, अब भी तेरा गर्व न ठण्डा हो पाया;
नहीं सत्य की चिन्ता पत्नी-विक्रय से है शरमाया।
अभी हुआ क्या, जीवन-नौका दुःख-सिन्धु में डूबेगी;
क्षत्रियता की अकड़ देखना, कैसे कण-कण टूटेगी ?"
"नाथ ! शर्म क्या बिकने में है ? सत्य-धर्म का पालन है;
कैसे भी हो प्रण की रक्षा करना ही तो जीवन है।

आप भला कब मुझे बेचते ? मैं तो खुद ही बिकती हूँ;
अर्द्धांगिनि हूँ अपना आधा ऋण तो मैं दे सकती हूँ।
प्राणेश्वर ! अब तो बस दिल पर पत्थर रखना ही होगा;
कौशिक ऋषिवर भी सच्चे हैं, ऋण तो भरना ही होगा।"

"ऋण से तो इन्कार नहीं है, दूँगा, दूँगा फिर दूँगा;
ऋषिवर के चरणों में अपना शीश काट कर रख दूँगा।
जग में जो भी अधमाधम अति निन्द्य कर्म हो करवाएँ;
क्षमा करें, पर तारा-मेरे जीते जो मत बिकवाएँ!"

"अरे मूढ ! कुछ होश नहीं है, मन आया सो बकता है;
मैं बिकवाता हूँ तारा को, कौन विज्ञ कह सकता है ?
ऋण-परिशोधन तुझे न करना, दम्भ पूर्ण अभिनय करता;
उलटा दोष मुझे देता है, जरा नहीं मन में डरता !
हमें पड़ी क्या, कुछ भी कर तू ले बस हम तो चलते हैं;
किन्तु देखना, सत्य भंग के क्या परिणाम निकलते हैं ?"

"प्रभो ! कहाँ जाते हैं ? पति को पाप-पंक में मग्न किये;
क्षमा कीजिए, दया कीजिए, जरा ठहरिए, शान्ति लिए।
अभी आपका ऋण चुकता है, ऋण से तो इन्कार नहीं;
प्रभो ! विपति में पड़कर मानव रह सकता है स्वस्थ कहीं ?
किसी तरह से भी मैं अपने जीवित रहते पति-यश पर;
लगने दूँगी नहीं स्वप्न में अपयश की रेखा अणुभर।"

"हरिश्चन्द्र क्या सोच रहे हो ? निज पत्नी के प्रति देखो;
अबला होकर भी साहस की कैसी प्रखर प्रगति देखो !
सत्य-पूर्ति के लिये तुम्हारी तरह न बातें करती है;
दासी बनती है, कष्टों में पड़कर तनिक न डरती है !
इस पर कुछ भी माँग नहीं है, पतिव्रता का जीवन है,
एक तुम्हारे लिए समर्पित करती, अपना तन-मन है।"

"प्रभो ! अयोध्या नगरी का वह स्वर्ग सदृश वैभव छोड़ा;
जो कुछ आज्ञा हुई शीघ्र की पालन, तनिक न मुख मोड़ा।
किन्तु, आज यह काण्ड भयङ्कर देख नहीं मैं सकता हूँ,
तारा औ' दासी ! यह दारुण दुख कैसे सह सकता हूँ !
नित्य हजारों दास-दासियाँ जिसकी सेवा करते थे;
पुष्प-सुगन्धित, मणि-मुक्ता, मृदु भोग श्रान्ति को हरते थे।
आज वही तारा क्या दासी बन कर कष्ट उठाएगी;
यह असह्य है सूर्य-वंश की कीर्ति नष्ट हो जाएगी !
आप बताएँ क्या यह संभव ? तारा दासी हो सकती ?
मैं जब तक हूँ विद्यमान्, यह दुर्घटना क्या हो सकती ?
ऋण का क्या है प्रश्न ? विपणि में मुझे बेच डालें भगवन् !
जैसे भी चाहें वैसे ही कर लीजे ऋण का शोधन।"

"कैसा वज्र-लण्ठ है, अब भी नहीं राज-मद नष्ट हुआ;
कौड़ी तक भी नहीं पास में सभी तरह से भ्रष्ट हुआ।

गर्वोद्धुर मस्तक को ऋण का भार अधस्तन करता है;
पता नहीं, फिर भी यह किस पर आत्म विकत्थन करता है?
हरिश्चन्द्र ! कुछ सोच समझ, इक ओर मानसम्मान खड़ा;
और दूसरी ओर कर्ज का महापाप सन्ताप कड़ा !
बोलो, इन दोनों मार्गों में वरण किसे तुम करते हो ?
ऋण देते हो, याकि आज निजमुख से साफ़ मुकरते हो ?"

"प्राणनाथ ! अब संकल्पों की उलझन में न अधिक उलझें !
व्यर्थ झिझक दें छोड़, अभी बस सकल समस्याएँ सुलझें !
जीवन में जिसकी न स्वप्न में कभी कल्पना भी आई;
आज वही कर्तव्य मार्ग में स्पष्ट विकट घटना पाई।
मेरी क्या चिन्ता है ? अब मैं कहाँ राजरानी, स्वामी !
आप बने मज़दूर, आपकी मैं मज़दूरानी, स्वामी।
वृथा भूत के सुख स्वप्नों के परिदर्शन का अब क्या फल;
जीवन वर्तमान है, उस पर चलते सभ सबल निर्बल।
भूल जाइये पिछली बातें, अब हम नाथ ! भिखारी हैं:
शाप ग्रस्त, दुःख से पीड़ित साधारण नर-नारी हैं।
अब न हमारे मिलने की इस जीवन में कुछ भी आशा;
अब तो अग्रिम जीवन में ही संभव दर्शन की आशा !
यह दुख का है समय, किन्तु है सत्य-पूर्ति की शुभ-बेला;
रवि के रहते ऋण न चुका तो, होगी सच की अवहेला।"

तारा अति उद्विग्न-नयन से हरिश्चन्द्र के मुख की ओर—
लगी देखने, प्रतिवाणी की प्रत्याशा से शोक-विभोर !
तारा की चिर-मधुर मूर्ति की कटु विच्छेद—कल्पना से;
हरिश्चन्द्र का हृदय तप्त हो उठा शोक की घटना से।

"प्राणों के रहते न कभी भी मेरे मुख से वह वाणी;
निकल सकेगी, जिसको सुनना चाह रही तुम, कल्याणी !
त्रिभुवन के वैभव का मेरे निकट जरा भी मूल्य नहीं;
मेरे लिए एक तुम ही हो सत्य, तुम्हारे तुल्य नहीं।
प्राण वल्लभे ! तव सुखार्थ सर्वस्व निछावर कर दूँगा;
प्राणों की भी बलि दे दूँगा, कभी नहीं कुण्ठित हूँगा।"

"प्रियतम ! प्राणनाथ ! परमेश्वर ! कृपा बड़ी है दासी पर;
धन्य भाग्य हैं, अमल स्नेह की धारा बहती दासी पर।
मेरे धर्म-कर्म सब तुम हो, मेरे जीवन, मेरे धन !
जन्म-जन्म में भी दासी का प्रभु-चरणों में हो वन्दन।
सदा आपके सुख में ही सुख मेरी आत्मा पाती है;
कैसा भी हो समय, आपका पथ निश्चल अपनाती है।
आज आपका मस्तक यदि यह अपमानित हो झुक जाये;
अगर आज उज्ज्वल चरित्र पर दाग जरा भी लग जाये।
तो फिर रवि-कुल का यह गौरव प्रभाहीन हो जायेगा;
कोटि-कोटि वर्षों से रक्षित सुयश क्षीण हो जायेगा।

अपने जीते जी न आपका यशोनाश मैं देखूँगी;
बिना आपकी अनुमति के ही मैं अपने को बेचूँगी।
अगर आपके गौरव की मैं रक्षा कुछ भी कर पाऊँ;
तो मैं पत्नी होने का निज धर्म सफल कुछ कर जाऊँ।
पशु-समान बिक जाने पर भी सुख अनन्त मुझको होगा;
नाथ! न लक्ष्य-प्राप्ति से रोकें, दुख अनन्त मुझको होगा।"

भूपति से जब मिली न आज्ञा चली स्वयं रानी तारा;
आपणिकों के पात्र आदि का कार्य शीघ्र निबटा सारा।

रोहित रुदन मचाता पीछे चला, साथ ही भूपति भी;
क्रोध-मूर्ति प्रत्यक्ष, चले श्रीमान हठी कौशिक यति भी!

सूर्य देव की प्रखर रश्मियाँ, तप्त रूप तज शान्त बनीं;
यत्र-तत्र काशी की सड़कों पर थी मानव-भीड़ ठनी।

दास-चिन्ह-अनुरूप शीश पर तृण रख कर तारा रानी;
आई ज्यों ही मध्य विपणि में, फैली त्यों ही हैरानी!

"कैसी दासी, यह तो कोई ऊँचे कुल की नारी है?
क्यों बिकती है? बस रहस्य है, दुनिया की मक्कारी है।"
पूछे पर जब पता लगा तो सभी लोग साश्चर्य हँसे;
"कौन सहस्र स्वर्ण मुद्रा दे इस झंझट में व्यर्थ फँसे।"

कहता कोई कौशिक से—"तुम साधू, किस पचड़े में हो ?
नारी बिका द्रव्य को चाहो फँसे निन्द्य झगड़े में हो ?"
भूपति को कहता है कोई—"पुरुष नहीं, यह अभिशापी;
आँखों के आगे पत्नी को बिकती देख रहा, पापी।"

तारा के प्रति कोई कहता—"नारी यह कलिहारी है;
संभव है दुःशीला भी हो, तभी बेचना जारी है।"

सभी ओर से कटु वाणी का अति निःसीम प्रवाह बहा;
हरिश्चन्द्र-तारा ने दिल को कड़ा किये यह द्वन्द्व सहा।

कोई भी जब मिला न ग्राहक, घटा निराशा की छाई;
इतने में ही वयोवृद्ध ब्राह्मण की मूर्ति नजर आई।

"दासी की इच्छा हो जिनको ले लें, दासी बिकती है;"
तारा यह आवाज लगाती है, पर जरा झिझकती है।

बूढ़े ब्राह्मण ने सोचा—"यह उच्च वंश की नारी है;
विपद्-ग्रस्त है, इस पर कोई संकट अति ही भारी है।"

तारा से आकर पूछा—"हाँ, बेटी! यह क्या झंझट है ?
क्या विपत्ति है ? क्यों बिकती हो ? क्या कुछ अंदर खटपट है ?"

"खटपट कुछ भी नहीं, पिताजी! ऋषि का ऋण ही देना है;
मेरे पति से इन ऋषिवर को सहस्र स्वर्ण धन लेना है।"

"आप कौन हैं ? नाम-गोत्र क्या ? कैसा ऋण है मुनिवर का;
समझ न सकता मैं यह लीला, भेद खोलिये अन्तर का।"

"नाम-गोत्र से क्या लेना है ? हम विपत्ति के मारे हैं;
मात्र-दक्षिणा ऋण है पति पर, वचन न अपना हारे हैं !"

"सहस दक्षिणा बहुत बड़ी है कैसे दी तुमने बेटो ?
और दक्षिणा क्या ऐसी है, जिस पर तुम बनती चेटी !"

"और नहीं कुछ कह सकती हूँ, कुल-गौरव का बन्धन है;
लेना है तो शीघ्र लीजिये, हाथ जोड़ अभ्यर्थन है।"

"ऋषिवर ! आप सन्त हैं, धन की ऐसी क्या भीषण ममता ?
भद्र-वंश की गृह-लक्ष्मी को बिकवाते न हृदय तपता ?"

"मूर्ख वृद्ध ! तुमको क्या इससे ? मुझे दक्षिणा लेनी है;
अगर दया है, ला तू दे दे, क्या शिक्षा ही देनी है ?"

"मुझ गरीब ब्राह्मण के पल्ले सहस स्वर्ण का द्रव्य कहाँ ?
अगर पाँच सौ चाहें तो लें, अभी गिना दूँ, खड़ा यहाँ ?"

कौशिक ने सोचा—"तारा है, धैर्यवती, विदुषी नारी;
भूपति को विचलित होने से यही बचाती हर वारी !
अगर अभी यह बिक जाये तो बस अच्छा ही हो जाये;
अर्ध दक्षिणा के फन्दे में फँसा भूप घबरा जाये !

आप स्वयं माफी माँगेगा, झगड़ा ही मिट जायेगा;
और मुझे क्या लेना है? बस नाम अटल रह जायेगा।"

वृद्ध विप्र से कहा गर्ज कर—"अरे पाँच सौ ही दे दे;
विकट परिस्थिति में उलझा हूँ, आधी तो सुलझाने दे।"

ब्राह्मण ने सानन्द पाँच सौ मुहरें कौशिक को गिन दीं;
कौशिक ने लेकर निज कर की झोली में झटपट रख ली।

तारा ने पति के चरणों में अन्तिम बार प्रणाम किया;
आँखों के पथ पर आँसू का रूप, प्रेम ने धार लिया।

"प्राणनाथ! दीजिए अनुज्ञा, अब यह दासी जाती है;
दयामूर्ति ब्राह्मण की सेवा-विधि का पथ अपनाती है!
मेरी चिन्ता कुछ न कीजिये, जैसे भी हो रह लूँगी;
नाम आपका रटते-रटते सब कुछ संकट सह लूँगी।
नारी का सर्वस्व, देव, सौभाग्य जगत में पति ही हैं;
भय न, तदर्थ देह हो अर्पण, जीवन की संगति ही है।
आज आप से होता है विच्छेद, मुझे भीषण दुख है;
किन्तु ध्येय के पालन के प्रति गौण जगत का दुख सुख है।
विदा दीजिये, चलती हूँ अब पता नहीं कब मिलना हो?
आशीर्वाद यही दें बस, अब सत्पथ से न फिसलना हो।"

हरिश्चन्द्र सुन जभी भूत गिर पड़े भूमि पर मूर्च्छित हो;
यह प्रसंग ऐसा ही, इससे नहीं धीरता लाञ्छित हो।

तारा ने झटपट अंचल से पवन करी, भूपति चेते;
उठे साश्रु, तारा-तारा का नाम एक स्वर से लेते।

"नाथ! दुःख का समय नहीं है, सत्य सामने खड़ा हुआ;
रवि अस्तंगत होने जाते, अभी अर्ध ऋण अड़ा हुआ।
ऋण न चुका, यदि रवि अस्तंगत हुए सत्य का क्या होगा;
किया-कराया चौपट होगा, सत्पथ से गिरना होगा ?
आँखों के खारे पानी से किस का जग में काम चला ?
वज्र हृदय मानव ही देते हैं संकट की शान गला ?
मेरे दासी बनने से क्यों दुःख आपको होता है ?
जीवन में अभिमान सत्य की निश्चलता को खोता है।
रानी या दासी, यह सब तो माया जाल बिछा ऊपर;
मानव तो बस मानव ही है, नहीं और कुछ इधर-उधर।
यह तो ब्राह्मण हैं, मैं बनती दासी नीच श्वपच की भी;
सत्य-पूर्ति के लिए न परवा ऊँच-नीच की रत्ती भी।
आप पुरुष हैं, वर क्षत्रिय हैं, बस अधीर मत बनिएगा;
मोह दूर कर निज अन्तर में नाद सत्य का सुनिएगा।"

तारा के शब्दों से व्याकुल हृदय भूप का सबल हुआ;
हटा शोक का प्रबल प्रभंजन, सत्य सर्वथा अचल हुआ !

"तारा तुम हो वज्र प्रकृति की, अबला होकर भी सबला;
विकट भयंकर संकट में भी तुम न कभी होती विकला !
मेरे सत्य-धर्म की रक्षा आज तुम्हीं ने की देवी;
पतित सत्य से हो जाता, यदि तुम न धैर्य रखती, देवी !
'आधा ऋण मुझ पर है, आधा कष्ट बटाऊँगी मैं भी;'
तुमने जो कुछ कहा, सत्य कर दिखलाया संकट में भी।
अब क्या ऋण की फिक्र, तुम्हारा पथ ही मेरा भी पथ हो;
विदा सहर्ष तुम्हें देता हूँ, सत्य तुम्हारा रक्षक हो !"

गीत

दासी मैं चरण-कमल की भूल न जाना, स्वामी !
प्रेम की अपनी दुनिया अमर बनाना, स्वामी !

जीवन हो पूर्ण चरन में,
थी यह अभिलाषा मन में;

कर्मों का फेर भयंकर, अब क्या पछताना, स्वामी !

दासी की फिक्र न करना,
स्वास्थ्य की रक्षा करना;

संकट का समय विकट है, धैर्य बँधाना, स्वामी !

मुझ से जो दोष बना हो;
वह सब आज क्षमा हो;

पिछली भूलों का दिल में, ध्यान न लाना, स्वामी !

जीवन का अन्तिम क्षण हो;
श्रीचरणों में बस मन हो;

अन्तर में केवल इच्छा, पार लगाना, स्वामी !

प्राणेश्वर सहर्ष विदा दो,
कुछ अंतिम मधु शिक्षा दो;

श्री मुख से कहा वचन ही रत्न खजाना, स्वामी !

गीत

विदुषी हो तुम को अब क्या नीति सिखाना, देवी !
सत्य की मूरत तुम हो, सत्य निभाना, देवी !

संकट की नदिया गहरी,
जीवन की नैय्या झँझरी;

साहस की बल्ली लेकर, पार लगाना, देवी !

दुनिया है रोना-हँसना,
क्या मिलन-विरह में फँसना;

ममता के बन्धन झूठे, मोह न लाना, देवी !

जब तक है सूर्य गगन में,
जब तक है मेरु धरनि में;

तब तक तू सत्य धर्म की चमक दिखाना, देवी !

ब्राह्मण की सेवा करना,
सुख-दुख का ध्यान न धरना;

सेवा के पथ में आकर फिर क्या लजाना, देवी !

यही है आशिष मेरी,
भूलूँ मैं याद न तेरी;

जीवन के कण-कण में तव प्रेम बसाना, देवी !

साश्रुपात, सोल्लास भक्ति से कर पति-चरणों में वन्दन;
रोहिताश्व को बिठा गोद में बार-बार करती चुम्बन !

बात सोच सूर्यास्त समय की तारा जल्दी चलती है;
मातृ-स्नेह में पले कुँवर से शीघ्र न छुट्टी मिलती है।

"बेटा ! दुखियारी माता के पास कहो अब क्या लोगे ?
इधर दुःख में मैं तड़पूँगी, उधर व्यथित तुम तड़पोगे।
भाग्यहीन जननी को भूलो, समझो, थी न कभी माता,
महाराज ही अब तो तेरे केवल जग में है त्राता।"

छुड़ा निजाञ्चल रोहित से झट चली अयोध्या की रानी;
रोहित माँ-माँ करता दौड़ा, समझ कहाँ, शिशु अज्ञानी !

हरिश्चन्द्र ने कहा—"पुत्र! तुम माता के ही सँग जाओ;
भाग्यहीन मेरे सँग रह कर, व्यर्थ कष्ट तुम क्यों पाओ?"

तारा ने समझाया—"बेटा! मेरे साथ कहाँ जाना;
मैं दासी हूँ, निशि-दिन श्रम ही करना, श्रांति नहीं पाना।
रूखा-सूखा भोजन जैसा मिल जाए वैसा खाना;
तुम बालक, हठ कर जाओ तो मुश्किल तुमको मनवाना!"

"माँ, मैं तो बस संग चलूँगा, यहाँ न बिल्कुल भी रहना;
जो कुछ दोगी, खालूँगा, इस ओर नहीं कुछ भी कहना!"

बहुतेरा समझाया, रोहित ने न एक कहना माना;
इतने में ही गर्जन करता, सुना ऋषीश्वर का ताना।

"हरिश्चन्द्र, यह अभिनय कितनी देर चलेगा, बतलाओ;
सूर्य शेष है एक घड़ी, बस आधा ऋण भी दिलवाओ!"

वृद्ध विप्र भी बोला—"बेटी, अब मैं अधिक न ठहरूँगा;
बड़ी देर हो चली, भला मैं कब तक झंझट देखूँगा?"

रोहित की यह दशा देख कर हाथ जोड़ बोली तारा;
शून्य-दृष्टि से लगी देखने, घूमा भूमण्डल सारा!

"पिता, आपसे एक प्रार्थना, इसको भी सँग चलने दें;
कहो, करूँ क्या, नहीं मानता, बालक की हठ रहने दें!"

"बेटी, कहना ठीक तुम्हारा, पर यह तो इक झंझट है;
बालक के पीछे माता को कितनी रहती खटपट है ?
भोजन-पान आदि की झंझट में ही समय गुजारोगी;
गृह-सेवा के लिये कौन-सा समय भला तुम पाओगी ?
और दूसरे भोजन का भी प्रश्न सामने आता है;
कौन गृहस्थ वृथा दो जन का भोजन-खर्च निभाता है ?"

ब्राह्मण की सुन अन्तिम वाणी, भूपति बोले मन ही मन;
"सत्य! खूब जी भर कर जाँचो, यह जन पीतल या कंचन?
जो बालक शत-शत लोगों के भोजन का आधार बना;
हन्त! आज उसका ही भोजन, दैव! भयंकर भार बना!"

तारा ने कर जोड़ कहा—"हे तात, सत्य मैं कहती हूँ;
सेवा में कुछ विघ्न न होगा, सत्य-प्रतिज्ञा करती हूँ।
रोहित तुमको नहीं जरा भी कभी कष्ट में डालेगा;
छोटा-मोटा जो भी होगा काम शीघ्र कर डालेगा।
और नहीं माँगूँगी रूखा-सूखा जो भी लघु भोजन–
मुझको देंगे; उसमें से ही खिला पिला दूँगी, भगवन !"

ब्राह्मण की स्वीकृति मिलते ही तारा ने प्रस्थान किया;
हरिश्चन्द्र के मन ने भी सुत-पत्नी का अनुयान किया।

पत्थर की मूरत से नृप को खड़े देख बोले कौशिक;
"अरे, खड़ा दिङ् मूढ़ बना क्यों, चिन्ता कर ऋण की नास्तिक!

सूर्य अस्त होता है, तुझको ऋण की कुछ भी फिक्र नहीं;
पत्नी-सुत के मोही, क्यों अब गर्वित प्रण का जिक्र नहीं!
मात्र पाँच सौ मुहरें दी हैं, इस पर यों निश्चिंत खड़ा;
अभी पाँच सौ और चाहिएँ, प्रश्न वहीं का वहीं अड़ा।
अगर नहीं दे सकता है तो अब भी मान कहा मेरा;
भूल मान ले, अभी मिटाये देता हूँ, झगड़ा तेरा।
रानी छुट जायेगी, तू भी कौशल-पति बन जाएगा;
क्या रक्खा है, झूठी हठ में, वृथा कष्ट ही पाएगा।"

कौशिक ने सोचा था—"रानी गई, भूप घबराया है;
सत्य-छोड़ना मान जायगा, शोक भयंकर छाया है।"

किन्तु भूप ने अति दृढ़ता से निर्भय हो प्रतिवचन दिया;
ऋषि की कल्पित आशाओं पर बिल्कुल पानी फेर दिया।

धर्मवीर नर संकट पाकर और अधिक दृढ़ होता है;
कन्दुक चोट भूमि की खाकर दुगुना उत्प्लुत होता है।

गीत

सत्य के पथ पर खड़ा हूँ, सत्य के मैदान में;
भ्रान्त हो सकता नहीं हूँ, सत्य के श्रद्धान में।
राज-शासन, वीर सेना, कोष तो क्या चीज है?
प्राण की भी भेंट दूँ मैं, सत्य के सम्मान में।

सत्य हरिश्चन्द्र

सत्य ही भगवान् है, भगवान् ही तो सत्य है;
भेद अणुभर भी नहीं है, सत्य औ' भगवान् में।
चाँद, सूरज और तारे यह मही-मण्डल अखिल;
सत्य के कारण हैं, वर्ना नष्ट हों इक आन में।
आदमी बन कर नहीं जो सत्य का सेवक बना;
फर्क कुछ भी तो नहीं हैं उसमें औ' शैतान में।
आफतों के वज्र शिर पर रात दिन गिरते रहें;
आ नहीं सकती लचक दृढ़ सत्य के अभिमान में।

"भगवन्! बार-बार क्या कहते? सौ बातों की बात यही;
भू, नभ सीमा भले त्याग दें, किन्तु सत्य मैं तजूँ नहीं।
राज्य-त्याग वन-वन में भटका, बिकी आज प्यारी तारा;
वही सत्य दूँ छोड़ कि जिसकी खातिर भोगा दुख सारा।
अभी ठहरिए, रवि छिपने से पहले ही ऋण चुकता है;
पत्नी के पथ पर अब पति भी दास रूप में बिकता है!"

हरिश्चन्द्र ने तारा का वह त्यक्त घास सिर पर रक्खा;
खड़े हो गए बिकने को, निज सत्य किन्तु दृढ़तर रक्खा।

आते-जाते लगे पूछने मानव—"कौन? कहाँ रहते?
क्या कारण? किस लिए दासता स्वीकृत कर संकट सहते?"

राजा बोले—"एक शब्द में परिचय है, मैं बिकता हूँ;
कौन, कहाँ से, क्या लेना है? झंझट व्यर्थ न करता हूँ!

दास आपका पुरुषोचित सत्कार्य सभी कर सकता है;
मुहर पाँच सौ देकर मुझको कोई क्रय कर सकता है।"

मूल्य अधिक बतलाकर सब जन एक ओर को चल देते;
हरिश्चन्द्र अति खिन्न भाव से बार-बार रवि लख लेते।

"आज सूर्य-छिपने से पहले क्या न चुकेगा मेरा ऋण;
हरिश्चन्द्र की कठिन परीक्षा, समय जारहा है क्षण-क्षण!"

भंगी एक दूर से यह सब दृश्य देखता था प्यारा;
"भंगी के कर कौन बिकेगा, अतः मौन था बेचारा।"

हरिश्चन्द्र की सुनी निराशा-वाणी तो आगे आया;
नम्र-भाव से डरते-डरते भूपति से आ बतलाया।

"वीर आप हैं बड़ी विपद् में, काशी में बिकने आए;
किन्तु खेद है, काशी-वासी तुमको नहीं परख पाए।
क्षमा करें, मैं भंगी हूँ, क्या मेरे घर पर आएँगे;
आज्ञा हो तो अभी पाँच सौ मुहरें मुनिवर पाएँगे!"

भंगी की सुन बात हृदय में रानी की गूँजी वाणी;
ब्राह्मण तो क्या भंगी के कर बिक जाती वह कल्याणी!

"हाँ मैं प्रस्तुत हूँ, ले चलिए, ले चलते हों आप जहाँ;
भंगी हो अथवा ब्राह्मण हो मानवता में भेद कहाँ?"

कौशिक उसे देखकर बिगड़े—"दुष्ट कहाँ से यह आया;
अभी काम बन जाता मेरा भूपति था बस घबराया।"

भूपति से बोले—"रे राजन्! क्या करता है सोच ज़रा;
भंगी के हाथों बिकता है, देख स्व-कुल की ओर ज़रा।"

"भगवन्! क्या है जात-पाँत के बन्धन की मर्यादा में;
मानव की बस मानवता है, शुभाचरण की सीमा में।
भंगी हो अथवा हो ब्राह्मण, भेद-दृष्टि का मूल्य नहीं;
भंगी हो यदि सच्चरित्र तो क्या वह ब्राह्मण-तुल्य नहीं?
हाँ तो मुझको नहीं देखना, मैं किसके कर बिकता हूँ;
मुझको तो बस यही देखना, ऋण-बन्धन से छुटता हूँ।"

"अधिक दुराग्रह ठीक नहीं है, जन्म-भ्रष्ट क्यों करता है?
भंगी बनकर सूर्य-वंश की कीर्ति-नष्ट क्यों करता है?
अब भी समझ, त्याग दे हठ को, कार्य ठीक बन जाएगा;
सुन, पत्नी औ, राज्य-विभव सब, तुझे पुनः मिल जाएगा!"

"क्षमा कीजिए, अब न आपका दास वापसी लौटेगा;
मूर्ख नहीं है, जो अब ऐसा स्वर्ण सुअवसर खो देगा।
अभी लीजिए जो लेना है, सूर्य चमकता है अब भी;
मेरा प्रण परिपूर्ण होगया, भाग्य शेष है कुछ अब भी।"

विश्वामित्र गर्ज कर बोले—"अरे गर्व क्या मनमें है;
अभी पता क्या कष्ट घोर से घोर दास-जीवन में है।

कितना है परिणाम भयंकर हठ का जब तू जानेगा;
ला क्या देता है धन-दौलत, नहीं मूर्ख अब मानेगा !"

भंगी को आवेश आ गया, मुहर पाँचसौ गिन दीं झट;
कहा-'और कुछ इच्छा हो तो लेलें, क्यों करते खटपट ?'

हरिश्चन्द्र ने किया प्रेम से ऋषि के चरणों में वन्दन;
"क्षमा कीजिए, दया-दृष्टि से आशी-राशि दीजे भगवन् !
अब तक रक्षा की निज प्रण की आगे भी प्रण पूरा हो;
हरिश्चन्द्र की यही प्रार्थना—स्वीकृत-पथ न अधूरा हो।"

कौशिक क्या कहते ? बस चुप थे, नृप भंगी के साथ चले;
रवि भी मानों दुःखित होकर अस्ताचल की ओर ढले।

—:×:—

दासी

राज-महल की वासिनी तारा ब्राह्मण-गेह;
धन्य, सत्य की पूर्ति में बेची अपनी देह।

भाग्य-चक्र के परिवर्त्तन से सब जग संकट पाता है;
पाप-कर्म के दुष्फल पाकर, रोते जन्म गँवाता है।
किन्तु सत्य के कारण जो नर-नारी दुःख उठाते हैं;
वे क्षण भंगुर जगमें अपना नाम अमर कर जाते हैं।

संसृति में जितने भी अच्छे कार्य, कष्ट से साध्य सभी;
विना अग्नि में पड़े स्वर्ण का रूप चमकता है न कभी।

पापी बनने में दुख क्या है? कोई भी बन सकता है!
पर, धर्मी बनने में तन का शोणित कण-कण जलता है!

सत्य-धर्म के लिए नृपति औ' रानी संकट झेल रहे;
संकट क्या, साक्षात् अग्नि की ज्वालाओं से खेल रहे!

ब्राह्मण का छोटा-सा घर है, एक ओर बैठी तारा;
धुँधला-सा इक दीप तिमिर से काँप रहा है बेचारा।
भूल रही है खाना पीना हृदय अग्नि-सा धधक रहा;
आँखों के पथ पर आँसू का झर-झर प्रबल प्रवाह बहा।

पाठक सोच रहे हैं, अपनी पीड़ा से रानी चिन्तित;
भ्रान्त धारणा है, रानी तो किसी और दुख से दुःखित।

"हा पतिदेव! कष्ट है भीषण तुमको छोड़ चली आई;
दासी बनकर भी संकट को दूर नहीं मैं कर पाई!
सुख से, दुख से किसी तरह से मैंने तो आश्रय पाया;
पता नहीं, तुम कहाँ किस तरह? दैव विकट तेरी माया।
आधा ऋण था शेष, चुकाया गया कि किंवा नहीं गया;
कौशिक, क्रोधी बड़वानल हैं, आतो उनको नहीं दया।
परम पिता, परमेश्वर! मेरी ओर नहीं कुछ भी आशा;
पति मेरे सानन्द रहें, बस यही एक है अभिलाषा!"

इस प्रकार चिन्ता में घुलते-घुलते रात बिता दीनी;
पलभर को भी नहीं सती ने आँखों में निद्रा लीनी।
हृदय और मस्तिष्क तुम्हारा अगर काम कुछ देता है;
पाठक, सोचो इस हालत में नींद कौन जन लेता है?

प्रातःकाल हुआ, प्राची में, दिव्य नभोमणि आ चमके;
आलोकित हो उठा जगत् सब, फूलों के आनन दमके।

अन्धकार तारा के दिल में, किन्तु और गहरा छाया;
बाहर का आलोक, हृदय का तिमिर दूर कब कर पाया?

पर अपना कर्त्तव्य समझकर जुटी काम में श्री तारा;
झाड़ू, चौका, बर्तन करके किया काम सुन्दर सारा।

प्रथम दिवस में ही ब्राह्मण की पत्नी को यों चकित किया;
मिश्र और मिश्राणीजी का खुलकर आशीर्वाद लिया।

भोजन जब कर लेते सब जन, तब कुछ खाद्य-विरस पाती;
रोहित को सस्नेह खिलाकर, शेष स्वल्प-सा खुद खाती।

इसी तरह से धीरे-धीरे भूतकाल को स्मृति उज्ज्वल;
लगे भूलने तारा रोहित, समझ समय की गति चंचल।

बीते कुछ दिन बड़ी शांति से किन्तु भाग्य में शांति कहाँ?
सत्यवती तारा के पीछे एक भूत लग गया यहाँ!

वृद्ध विप्र का एक पुत्र था नालायक मक्कार बड़ा;
वज्र मूर्ख, अतिकामी, लंपट, हृदय पाप से मलिन सड़ा!
बालकपन में लाड़-प्यार में खेला कूदा, नहीं पढ़ा;
युवक हुआ तो दुःसंगति में पड़, कुमार्ग की ओर बढ़ा।

घूम रहा था बाहर धक्के खाता, दुष्कृति का मारा;
एक दिवस आ गया अचानक काल-मूर्ति-सा हत्यारा।

तारा को लख हुआ विमोहित—"अहा रूप कितना सुन्दर !
दासी क्या है स्वर्ग अप्सरा, मिला योग कितना सुन्दर !"

सुन्दर अशन-वसन के द्वारा ज्योंही चाहा फुसलाना;
तारा थी विदुषी, कब उसको भला शक्य था बहकाना ?

"मैं दासी, मुझको यह सुन्दर, भोजन वस्त्र न भाता है;
साधारण-सा रहन-सहन हो शास्त्र हमें बतलाता है।
दासी हैं हम, किन्तु हमें भी धर्म हमारा प्यारा है;
पति-विहीन शृङ्गार हमें तो तीक्ष्ण नग्न असि-धारा है।"

और अधिक क्या ? एक दिवस तो स्पष्ट शब्द में फटकारा;
समझ न पाया मूर्ख, और भी चढ़ा कुमति का शिर-पारा !

"दासी होकर फिर भी इतना, गर्व और गौरव रखती,
गृह-स्वामी की अपने मनमें नहीं तनिक परवा करती।
देखूँगा कब तक यह मुझको अकड़ ऐंठ दिखलाएगी;
बूढ़े ब्राह्मण का डर, वर्ना अभी अकड़ मिट जाएगी !"

दिल में क्रोध बहुत ही आया, किंतु न बोला कुछ ऊपर;
लगा सताने रानी-सुत को दुष्ट, नीच, क्रोधित होकर।

बात-बात पर क्रुद्ध, रुष्ट हो तारा को गाली देता;
कभी-कभी वह रोहित पर भी मारपीट शठ कर लेता !
तारा को भोजन भी पूरा नहीं प्रथम-सा मिलता है;
'क्षुधा-विवश हो स्वयं झुकेगी,' कामी-नीच समझता है।

बुद्धिमती तारा पर इसका असर भला क्या होना था ?
मूर्खराज को व्यर्थ पाप का भार शीष पर ढोना था।

राज्य-त्याग से दुःख-सिन्धु को जिसने प्रमुदित पार किया;
वह तारा क्या आज कष्ट से भूलेगी निज धर्म-क्रिया ?

रूखा-सूखा थोड़ा-सा भी जो कदन्न रानी पाती;
रोहित को भरपेट खिलाकर, बचा-खुचा फिर खुद खाती।

रोहिताश्व अब समझ चला था, माता से आग्रह करता;
माता कहती—'पुत्र न खाऊँ, उदर शूल पीड़ा करता।'

बहुत बार तो बिल्कुल भूखी रह कर काम किये जाती;
बाहर काम, हृदय में प्रभु के स्तुति-गुण-गान किये जाती।

——:×:——

दास

हरिश्चन्द्र भी बन गए भंगी के घर दास;
किन्तु न छोड़ा सत्य का अपना दृढ़ विश्वास।

सेवा का पथ जगती तल में बड़ा कठिन बतलाया है:
सेवा का व्रत असिधारा-सा ऋषि-मुनियों ने गाया है।
असि-धारा क्या, नट भी इस पर हँसी-खुशी से चल सकते;
सेवा-पथ पर तो सुरपति भी डरते-डरते डग रखते।

पद पद पर अपमान-यंत्रणा बड़ी विकट सहनी पड़ती;
बार-बार दुर्वाणी दिल में भाले की मानिँद गड़ती।
धन्य-धन्य वे कर्मठ, ज्ञानी, वीर विश्व के सेवक हैं;
देश, जाति, कुल और धर्म की गरिमा के संरक्षक हैं।

हरिश्चन्द्र भी सेवक बन कर भंगी के घर पर आए:
सत्य-धर्म की रक्षा के हित अर्पण तन-मन कर आए।

भंगी ने अपनी नारी से कहा—"बड़े ही सज्जन हैं;
विपद्-ग्रस्त हैं, धर्म-शील हैं, ज्ञानी बड़े विलक्षण हैं।
नौकर इनको नहीं समझना, सादर नित सेवा करना:
अनुचित हो व्यवहार न कुछ भी इसका ध्यान सदा रखना।
राजहंस का वाम भाग्य है, गाँव तलैय्या पर आया:
किन्तु तलैय्या भाग्यवती है, अतिथि हंस सुन्दर पाया।
ऋषि के ऋण में बँधे हुए थे, मुहर पाँच सौ में लाया,
सफल कमाई आज हुई है, श्रेष्ठ पुरुष घर पर आया।"

भावुक था भंगी, पर भंगिनि बड़ी कर्कशा नारी थी:
भड़क पड़ी भंगी पर उलटी, नख-शिख तक कलहारी थी।

काम नहीं कुछ लेना इससे तो क्या सूरत देखूँगी;
मुहर पाँच सौ देकर लाए, क्या चूल्हे में फूकूँगी!
कौड़ी-कौड़ी जोड़ भूख को सहकर द्रव्य कमाते हैं;
धर्मात्मा बनने की धुन में यों बेदर्द लुटाते हैं!"

भंगी ने हो क्रुद्ध जोर से कलहारी को फटकारा;
मार रहा था, हरिश्चन्द्र ने बड़ी कठिनता से वारा।

प्रतिदिन राजा वीर अपंच से कहते—"कुछ आज्ञा दीजे;
छोटा-मोटा जो भी मेरे योग्य काम, करवा लीजे!
धर्म नहीं आज्ञा देता है, ठाली बैठे खाऊँ मैं;
दास-प्रथा-प्रतिकूल मार्ग यह, काम न जो कर पाऊँ मैं।"

भंगी कहता—'क्या जल्दी है, काम कौन-सा लाऊँ मैं ?
यह क्या काम आपका कम है, धर्म-वचन सुन पाऊँ मैं ?"

भंगिनि नित्य हृदय में कुढ़-कुढ़ और बहुत बड़-बड़ करती;
घृणा, द्वेष की आग चित्त में प्रतिदिन नित्य नई भरती।

भंगी था बाहर, भंगिनि से एक दिवस आज्ञा माँगी;
गर्ज उठी जैसे सोते से क्रुद्ध सिंहिनी हो जागी।

"अरे निखट्टू काम करेगा ? धर्म-शास्त्र बस बतला दे;
कब की बैठी हूँ प्यासी मैं, घड़ा एक पानी ला दे।"

घड़ा बड़ा-सा लेकर भूपति गंगा के तट पर आए;
गंगा की निर्मल जल-धारा देख-देख कर हरषाए।

उधर नीच वह विप्र-पुत्र भी तारा को तँग करता है;
गंगा-जल लाने की आज्ञा देकर खूब अकड़ता है।

तारा भी घट ले गंगा के तट पर जल भरने आई;
सहनशीलता पति-दर्शन का स्वर्ण योग देने आई।

सच्चा हो यदि प्रेम हृदय में तो प्रेमी मिल जाता है;
प्रेमी तो क्या, ईश्वर का भी मानव, दर्शन पाता है।

पति-पत्नी ने सम्मुख देखा एक दूसरे को ज्योंही;
हृदय, हर्ष के सुधा-स्रोत से छलक उठे सहसा त्यों ही।

दो प्रेमी के मिलन-दृश्य का क्या कवि वर्णन कर सकता;
स्वतः विचित्रित इन्द्र-धनुष में रंग कौन है भर सकता ?

एक दूसरे के सुख-दुख को दोनों ने पूछीं बातें;
हरिश्चन्द्र ने अपनी बीती, बतलाईं पिछली बातें।
पति-पत्नी दोनों ही खुश हैं अपने आज्ञा-दाता पर:
"धन्यवाद है, कृपा तुम्हारी, पाया अति सुन्दर अवसर।"

दोनों ने सोचा—"अब ज्यादा देरी करना ठीक नहीं;
स्वामी को धोखा देना है, धर्म बिगड़ना ठीक नहीं।
आज मिला जैसे यह अवसर वह भी इक दिन आएगा;
बन्धन-मुक्त बनेंगे, सुख का सुधा-सिन्धु लहराएगा।"

रानी को तो और स्त्रियों ने घट सस्नेह उठा दीना;
राजा भंगी बन कर आए कौन स्पर्श से हो हीना।
जल भरने का यह पहला ही अवसर था, अभ्यस्त न थे;
आभिजात्य के मिथ्या-भ्रम में फँसे लोग तैयार न थे।

रानी बोली—'नाथ ! समस्या उलझ रही है अति भारी;
दास्य-भाव के कारण अपनी जाति बनी न्यारी-न्यारी।
उठवा देती किन्तु विप्र का धर्म न आज्ञा देता है;
लोक-भीति है अड़ी हुई, पर हृदय तरंगें लेता है!

घट को लेकर गहरे जल में चलिए घट उठ जाएगा;
जल में वस्तु न भारी लगती, न्याय काम में आएगा !"

भूपति ने बस इसी तरह से घड़ा उठाया, और चले;
पहुँचे ज्योंही श्वपच-गेह पर हन्त ! भाग्य से गए छले।

देहली की ठोकर लगते ही घड़ा कहीं का कहीं गिरा;
खण्ड-खण्ड हो गया, सदन में जल ही जल सब ओर फिरा।

भंगिनि भड़की, तड़की, उछली, गर्जी, और लगी बकने;
"अरे दुष्ट घट फोड़ दिया, क्या देख रहा था तू सपने ?
बड़ी देर में लेकर आया, और किया आकर यह जम;
बतला पीऊँ क्या मैं तेरा खून, प्यास करती बेबस !"

बरस रही थी भंगिनि, राजा खड़े हुए थे बिल्कुल मौन;
नीच-प्रकृति के संग कलह कर क्लेश बढ़ाए नाहक कौन ?

भंगी आ पहुँचा इतने में देखा तो बिगड़ा, भड़का:
'अभी सर्वथा नाश करूँगा, घातक विषतरु की जड़ का !'

दौड़ा लेकर छुरी मारने भूपति ने आकर पकड़ा;
"समझदार होकर भी यह क्या करते हैं दुष्कर्म बड़ा ?
महापाप नारी की हत्या, शास्त्रकार बतलाते हैं;
वीर पुरुष नारी के ऊपर कभी न हाथ उठाते हैं।

और दूसरे इनका कुछ भी दोष नहीं, दोषी मैं हूँ;
मुझ से घट फूटा है, स्वामी ! अविवेकी, क्लेशी मैं हूँ ।
गृह-लक्ष्मी हैं, अतः व्यवस्था सभी तरह से हैं रखतीं;
बिना बात की हानि बड़े से बड़े जनों को भी खलतीं ।"

भंगिनि लज्जित बनी आप ही देख भूप की सज्जनता;
सज्जनता के आगे होती लज्जित आखिर दुर्जनता ।

भंगी बोला—'बड़ा कष्ट है, घर पर तो यह कलहारी;
गंगा-तट मरघट है मेरा, बनें वहाँ के अधिकारी ।
दाह-क्रिया करने से पहले अर्ध कफन-कर ले लेना;
दाह-अर्थ फिर समुचित लकड़ी आदि, प्रेम से दे देना ।"

कौशल के सम्राट समुन्नत सप्त सौध के अधिवासी;
काला कम्बल कंधे डाले, बने आज मरघट-वासी !

———

स्वतंत्र रोहित

मात-पिता अनुसार ही होती है सन्तान
कटुक-मधुर फल-वृक्ष के लगते बीज-समान

सन्तति के गुण, दोष अधिकतर
मात-पिता पर निर्भर हैं;
संस्कारों के जीवन, पट पर
पड़ते चिन्ह, प्रबलतर हैं।

शिलान्यास संस्कृति का माता—
पिता पूर्व रख जाते हैं;
आगे चल कर पूर्व-बीज ही
यथा काल फल लाते हैं।

बालक कच्चा घट है उसको
जैसा जी चाहे, ढालें;

सुन्दर सुघड़ बनालें चाहे
कुटिल कुरूप बना डालें।

हरिश्चन्द्र तारा हैं निर्भय,
धीर, वीर, साहस-शाली;
रोहित कब हो सकता है, फिर,
भला इन्हीं गुण से खाली।

रोहित देख रहा था—'माता,
नित मदर्थ भूखी रहती;
सूर्योदय से लेकर करती
काम, घोर पीड़ा सहती।"

"माता के भोजन से भोजन
मुझको लेना उचित नहीं;
मेरी उदर-पूर्ति के कारण
जननी भूखी ठीक नहीं।"

आओ, कलियुग की सन्तानों,
रोहित के दर्शन कर लो;
मातृ-भक्ति का पथ अपना कर
अन्तर का कलि-मल हर लो !

बालक है, फिर भी है कितना
मातृ-भक्त देखा तुमने;
क्या इस गुणकी शत-विभक्त भी,
पाई है रेखा तुमने !

बूढ़ा ब्राह्मण पुष्प चयन के-
लिए भेजता था प्रतिदिन:
इधर-उधर से पुष्प सुगन्धित
रोहित लाता था गिन-गिन।

एक बार फूलों की धुन में
रोहित जा पहुँचा वन में;
देख पुष्प, फल सरस मनोहर,
हुआ हर्ष-पुलकित मन में।

पक्क, मधुर फल तोड़े खाए,
इधर-उधर वन में घूमा:
देख प्रकृति की शोभा अनुपम,
हर्ष-मत्त होकर झूमा।

भारत की वन-भूमि प्रजा की
अपनी ही निधि होती थी;
दीन-हीनतर जनता की तो
प्रतिपालक ही होती थी।

सत्य हरिश्चन्द्र

गोचर-भूमि बड़ी सुन्दर थी
पशु-पालन नित होता था;
साधक-जन तप-निरत कालिमा–
निज अन्तर की खोता था।

वन-फल बेच दरिद्री जन भी
अपनी गुज़र चलाते थे;
वन होने से वर्षा होती
कृषक सदा सुख पाते थे।

आज दशा है विकट, कहाँ वह
वन के दृश्य ? विलुप्त हुए;
प्रजा कष्ट से तड़प रही है,
भूप लोभ-अभिभूत हुए।

मातृ-भक्त रोहित माता के
लिए मधुर कुछ फल लाया;
अस्वीकृति में भी आग्रह-वश
खिला हर्ष मन में पाया।

माता बोली—"बेटे, वन में
तुमको भीति नहीं लगती;
मेरे कारण तुम दुख भोगो
सहन नहीं मैं कर सकती।"

"सूर्य-वंश के तिलक ! तुम्हारी
संकट-पूर्ण दशा कैसी ?
वन-फल खाकर करो गुजारा
भाग्यहीन माता कैसी ?"

रोहित बोला—"माता, तुम तो
पिछली बातें करती हो;
मैं तो हूँ सानन्द व्यर्थ ही
तुम चिन्ता में मरती हो !'

''वन में क्या है भीति ? वहाँ पर
प्रकृति मोद बरसाती है;
शीतल, मन्द-सुगन्ध-पवन है,
बड़ी ताज़गी आती है।"

"अपने पाटक के कितने ही
बालक भी प्रतिदिन जाते;
नाना-विधि क्रीड़ाएँ करते
सरस मधुरतम फल खाते।"

रोहित इसी तरह से प्रतिदिन
वन में आता जाता है;
पुष्प-चयन कर वन-फल खाता
माता के प्रति लाता है।

———

विपत्ति-वज्र

मानव वर्षों सोचता, बुनता आशा-जाल;
पल भर में सब ध्वस्त हो, कुटिल कर्म की चाल।

आशा पर मानव-जीवन का पल-पल समय गुजरता है;
जीवन का बेड़ा आशा की लहरों पर ही चलता है।
सुख के उजले, सुन्दर वासर, संकट की काली रातें;
कट जाते हैं दिन-दिन वर्षों आशा की करते बातें!

कीड़े से ले इन्द्र स्वर्ग का, सभी चराचर जग-प्राणी;
आशा की छलना में चक्कर काट रहे, यह ऋषि-वाणी!
आशा के विन जीवन की गति इंच न एक सरकती है;
जीवन की प्रत्येक क्रिया पर आशा नित्य झलकती है।

तारा भी निज सुत रोहित की कर्म-वीरता से हर्षित;
देख पुत्र की चंचलता को नहीं कौन माता गर्वित!

"आशा है रोहित निज बल से कुछ धन-राशि कमाएगा;
होकर तरुण नृपति का-मेरा चिर दासत्व छुड़ाएगा।
कौन बड़ी सम्पत्ति देय है मुहर सहस ही तो केवल;
धन्य दिवस वह होगा, पति के दर्शन होंगे जब निर्मल।"

भाग्य कुटिल हँसता था—"रानी, सोच रही हो क्या चुपचाप;
मेरा भी कुछ पता तुझे है? आता है भीषण सन्ताप।
एक बार तो ऐसा झटका दूँगा सँभल न पाओगी;
अन्तिम सीमा पर पटकूंगा, रोओगी चिल्लाओगी।"

प्रतिदिन के अनुसार एक दिन रोहित ने की वन-यात्रा;
सन्ध्या को भोजन न मिला था, लगी भूख की अति मात्रा।
आस-पास के साथी शिशु भी चले बना खासी टोली;
लहरों की मानिंद उछलते, चहकाते नव-नव बोली।

वन में दूर आम्र का सुन्दर वृक्ष फलों से लदा हुआ—
देखा तो बच्चों के दिल में अकस्मात मुद बड़ा हुआ।

रोहित चढ़ने लगा वृक्ष पर दिया दिखाई, इक विषधर—
लिपट रहा था तरु-स्कन्ध से, बालक काँप उठे थर थर!!

रोहित निर्भय तना खड़ा था, कहा—"अरे, विषधर जाओ;
यह न तुम्हारा खाद्य, हमारा भोजन है, मत ललचाओ!"

रोहिताश्व जब हुआ अग्रसर, सर्प भयंकर फुफकारा;
निर्भय क्षत्रिय वीर-पुत्र था, डरता क्या भय का मारा ?

आओ बच्चो, चूहे की भी खड़-खड़ से डरने वालो;
रोहित भी है बन्धु तुम्हारा वीर-धर्म की शिक्षा लो।
यह भी क्या जीवन है ? हरदम काँपा करते हो थर-थर;
जरा अँधेरे में रस्सी भी तुमको दिखती है विषधर।
माताएँ जो भूत प्रेत की भीति तुम्हें दिखलाती हैं;
झूठे भ्रम में तुम्हें फँसा कर कायर भीरु बनाती हैं।

सावधान हो जाएँ साहस, अब अति साहस होता है;
निर्भयता के साथ मेल अब नासमझी का होता है।

रोहित ने विषधर को कर से पकड़ दूर करना चाहा;
विषमयदंश नाग ने मारा, बालक चीख उठे हा ! हा !!

रोहिताश्व विष-जर्जर होकर पड़ा भूमि पर चिल्लाया;
"अरे हुआ क्या ? बड़ी विकट है भाग्य तुम्हारी हा माया !
माता, माता ! आज तुम्हारा रोहित वन में मरता है;
काटा विषधर ने अणु-अणु में जहर सवेग लहरता है।
मन की इच्छा मन में लेकर जाता हूँ कुछ कर न सका;
पिता और तुम को कर बंधन मुक्त मोद से भर न सका !
माता ! तुम अज्ञात रूप से लो निज सुत का अभिवन्दन;
जाता हूँ, अब करता मेरा स्वर्ग-लोक चिर अभिनन्दन !

प्रभो ! प्रभो ! तुम इस बालक पर दया दृष्टि निज रखिएगा;
पाप-दोष हों जो भी मेरे, क्षमा प्रेम से करिएगा।
निःसहाय माता को चरणों में हूँ छोड़ चला भगवन !
सुत-वियोग-संकट सहने की देना शक्ति उसे क्षण क्षण !"

भगवन ! भगवन !! करते करते विष प्रभाव फैला तन में;
तारा की आँखों का तारा हा बेहोश हुआ क्षण में !
बाल-मण्डली के कुछ बालक दौड़े, जा कर खबर करी;
'रोहित मरा सर्प ने काटा'—गूँजी वाणी ज़हर-भरी !

वज्राहत-सी मूर्च्छित होकर पड़ी धरित्री पर तारा;
जल-विहीन मछली के मानिंद लगा तड़पने तन सारा !
कभी होश में आ जाती है, कभी मूर्छना होती है;
सहस-सहस भालों के जैसी दिल में पीड़ा होती है।

"हा रोहित, हा पुत्र ! अकेली छोड़ मुझे तू कहाँ गया ?
मैं जी कर अब बता करूँ क्या ले चल मुझको जहाँ गया !
पिछला दुख तो भूल न पाई, यह क्या वज्र नया टूटा;
तारा तू निर्भागिन कैसी, भाग्य सर्वथा तव फूटा।"

गीत

हाय ! बेटा, क्या तूने विचारी ?
माता छोड़ी, हा ! कर्मों की मारी !

क्या-क्या आशा भला मैंने बाँधी,
क्या-क्या खिचड़ी मनोरथ की राँधी;
आज तूने यह क्या धूल डारी ?
हाय बेटा ! क्या तूने बिचारी ?

कैसे धीरज धरूँ मैं बता तू,
हाय ! सूरत जरा तो दिखा तू;
चलती ग़म की जिगर पै कटारी,
हाय ! बेटा, क्या तूने बिचारी ?

पास मेरे रहा क्या, न कुछ भी,
मैं अनाथा, सहारा न कुछ भी;
आज उजड़ी मेरी दुनिया सारी;
हाय ! बेटा, क्या तूने बिचारी ?

कैसे जीवन हा ! मेरा कटेगा;
हाय ! निशि दिन कलेजा फटेगा;
छाया चहुँ ओर अँधकार भारी;
हाय ! बेटा, क्या तूने बिचारी !

हृदय-हीन है मानव कितना ? आप नमूना देखेंगे ?
क्या देखेंगे ? क्षुब्ध बनेंगे, हृदय घृणा से भर लेंगे !
ब्राह्मण-पुत्र नाम का ब्राह्मण कर्मों से चाण्डाल बना;
पास खड़ा था रुद्र रूप-धर कलि-मल से था हृदय सना !

"रोती क्यों है पगली ? हो क्या गया ? कौन-सा नभ टूटा ?
बालक ही तो था, दासी के जीवन का बन्धन छूटा !
मैं तुझको रो-रो कर ऐसे कभी नहीं मरने दूँगा;
मुहर पाँच सौ खर्च करी हैं, सेवा जीवन भर लूँगा !"

तारा ने जब वचन सुने तो मर्मान्तक पीड़ा पाई;
किन्तु भाग्य विपरीत जान कर, धीरज धर कर बतलाई।

"जो होना था हुआ, किन्तु अब क्या करना है ? बतलाएँ ?
आप हमारे स्वामी हैं, उपचार योग्य कुछ करवाएँ !
मैं नारी परिचित न किसो से कहाँ किधर जाऊँ ? आऊँ ?
आप संग में चलें कृपा कर दर्शन रोहित का पाऊँ !"

पत्थर पर कुछ असर भले हो, किन्तु दुष्ट पर कभी नहीं;
दीन प्रार्थनाएँ तारा की, ब्राह्मण के प्रति विफल रहीं।

"क्या उपचार? मर गया वह तो मृत भी क्या जीवित होते ?
हम स्वामी, दासों के पीछे द्रव्य नहीं अपना खोते।
मुझे कहाँ अवकाश, चलूँ जो तेरे साथ व्यर्थ कानन;
लंबी बातें करने से क्या दुखता नहीं कहो आनन ?
जाओ जल्दी, काम पड़ा है, दाह-कर्म कर झट आना;
खबरदार ! मृत को न नगर में वापस मेरे घर लाना !"

वृद्ध विप्र था सदय, पुत्र के डर से किन्तु नहीं बोला;
तारा के अणु-अणु में धँधका शोक-हुताशन का शोला !

मन मसोस कर खड़ी हुई, चल पड़ी अकेली ही वन को;
मूर्च्छित होकर पड़ी भूमि पर देख पुत्र के मृत तन को।
वन-समीर से चेतन होकर, लगी रुदन करने भारी;
मूर्च्छित सुत को उठा गोद में बिलख रही है दुखियारी!

"बेटा, आँखें खोलो, देखो, जननी कब से रोती है;
रूठ रहे हो क्या तुम मुझ से, ठीक नहीं हठ होती है।
हा, हा! इतना प्यार पलक में तूने कैसे ठुकराया?
माता बिलख रही है, तूने स्वर्ग-लोक-पथ अपनाया।
रोहित! इस दुनिया में आकर तूने क्या देखा भाला?
राज वंश में जन्म लिया पर पड़ा विपद से हा पाला!
तुम तो कहते थे—माता, मैं होकर तरुण कमाऊँगा;
पिता और तुमको जल्दी ही बन्धन से छुड़वाऊँगा!
बता आज हमको बन्धन से कौन छुड़ाने आएगा?
हाय, दासता करने में ही जीवन सब घुल जाएगा!
हा, तेरा यह पुष्प मृदुल तन क्या अहि के डसने को था;
शून्य विपिन में इक अनाथ की तरह हंत मरने को था?
हा, हा! पापी सर्प कहाँ वह गया काट कर हत्यारा;
आकर मुझको भी डस ले, अब किस पर जीएगी तारा?
चलो प्राण! क्यों अटक रहे हो? अब काहे की आशा है?
जीवन-धन तो चला गया, अब आशा नहीं दुराशा है।

हा, हा! नाथ! देख लो अपने गोद खिलाए प्रिय सुत को;
तुमने सौंपा, रख न सकी मैं रत्न अमोलक अद्भुत को!
लज्जित हूँ, अति लज्जित हूँ, मैं मुख कैसे दिखलाऊँगी?
रोहित को खोकर मैं पापिन सम्मुख कैसे आऊँगी?"

गीत

क्या ख़बर थी हाय! मेरा भाग्य यों सो जायगा?
आँख का तारा अचानक लुप्त यों हो जायगा?
देख कर खुश हो रही थी-पुत्र क्या है, रत्न है;
क्या पता था एक दिन यों हाथ से खो जायगा?
रंग दे दे कर बनाये थे सुखों के चित्र क्या?
स्वप्न में भी था न, रोहित यों कभी धो जायगा?
पथ निजाशा का सजाया था सुमन संकल्प से;
हा! पता क्या था कि बेटे, काँटे तू बो जायगा?

तारा घंटों क्रन्दन करती रही, शोक चहुँ दिशि छाया;
आखिर रोते और बिलखते धैर्य स्वयं दिल में आया!

बालक सारे चले गये थे, पास नहीं कोई भी जन;
पवन शीश धुनती तरु गण से, साँय-साँय करता था वन।
सूर्य देव भी निज कुल की दुख-दशा देख कर घबराये;
मुख-विवर्ण, बन गये हतप्रभ, अस्ताचल के प्रति धाये।

सत्य हरिश्चन्द्र

घोर अमा की रात्रि कृष्णतम, अन्धकार फैला भीषण;
घूक और जम्बुक का भैरव आरव होता था क्षण-क्षण !

अन्धकार में अन्धकार, घन काले अम्बर में छाये;
भीषणता के जो भी थे दुश्चिह्न सिमट कर सब आये।

स्वर्ण-महल में फूल-सेज पर, शत-शत सखियों से परिवृत;
शस्त्र-सुसज्जित शत-शत सैनिक दल से प्रतिदिन संरक्षित।
शून्यारण्यानी में तारा वही आज कैसे रोती ?
स्नेही सुत की लाश गोद में, रो-रो कर सुध-बुध खोती !
कोई भी न सान्त्वना देने वाला मनुज, अकेली है;
कैसे सुत की दाह-क्रिया हो, उलझी वक्र पहेली है।

धनवालो ! क्या खुश होते हो ? चाँदी की छन-छन सुन सुन;
अकड़ रहे हो, ऐंठ रहे हो, भोग रहे हो सुख चुन-चुन !
सदा कहाँ रहती है किसकी, दो दिन की फुलवारी है;
चार दिनों का चाँदन, आखिर तिमिर भयंकर भारी है।
तारा के वैभव के आगे कुछ न तुम्हारा वैभव है;
देख रहे हो दशा आज क्या, दृश्य बड़ा ही भैरव है !
न्याय-नीति उपकार करो, जग युग-युग तक यश गाएगा;
माया ढलती फिरती छाया, नाम अमर हो जाएगा !
हरिश्चन्द्र तारा को देखो दुनिया कैसे यश गाती ?
लाख-लाख हो चुके वर्ष हाँ, फिर भी नहीं भुला पाती !

गीत

अरे, ओ अमीरो ! कहाँ सो रहे हो ?
चलो सर झुका कर, अकड़ क्यों रहे हो ?
मिले चन्द पैसे तो दुखियों को सुख दो,
विलासों में जीवन को क्यों खो रहे हो ?
सता कर किसी को मिलेगा क्या तुमको,
वृथा पथ में काँटे-ज़हर बो रहे हो ?
ग़रीबों पै हँसना, यह हँसना नहीं है,
समझ लो कि अपने पै तुम रो रहे हो ?
भला कैसे होगा तुम्हारा अगाड़ी ?
'अमर' पाप की गाँठ क्यों ढो रहे हो ?

आओ पाठक, चलें हमीं बन सदय पास दुखियारी के;
देखें धैर्य, सत्य-बल, साहस उस अतीत की नारी के !

तारा को कर्तव्य-पूर्ति का ध्यान जगा दिल के अन्दर;
साहस-पूर्वक रोहित शव को चली उठा निज कंधे पर ।
अन्धकार है, ऊँचा-नीचा नहीं दृष्टिगत होता है,
ठोकर लगती कदम-कदम पर सब तन कंपित होता है ।

चलते-चलते ज्यों ही मरघट-भूमि दिखाई पड़ती है;
आँखों से आँसू की धारा झर-झर, झर-झर झरती है ।

———

अन्तिम कसौटी

हरिश्चन्द्र के सत्य की अग्नि-परीक्षा आज;
सावधान हो देखिये सत्य-शक्ति का राज !

आज दृश्य अत्यन्त भयंकर, तमःस्तोम चहुँ दिशि छाया;
अमा रात्रि ने अपना असली रूप भयानक दिखलाया।
तारा एक न नभ में दिखता बादल उमड़ रहे काले;
वर्षा के कारण अति भीषण रव से गर्ज रहे नाले।
झंझावात वेग से चलता, बिजली कड़क रही क्षण-क्षण;
बार-बार वज्र-ध्वनि होती, समय प्रलय-सा है भीषण !

मरघट क्या है, मृत्यु राक्षसी नाच रही है कण-कण पर;
एक छत्र है राज्य भीति का, कम्पित हो मानव थर-थर !
कहीं खोपड़ी पड़ी हुई हैं, कहीं चिता के ढेर लगे;
कहीं अस्थियाँ तिड़क रही हैं, कुक्कुर-दल के भाग्य जगे।

जम्बुक, घोर अमंगल-ध्वनि से इधर-उधर हू-हू करते;
घूक-राज वृक्षों पर बैठे कर्णकटुक चीखें भरते।

यहीं एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे घूम रहा मानव;
आओ देखें, अपना परिचित है अथवा कोई अभिनव ?

घुटनों तक हैं बाहु प्रलम्बित, दीर्घ वक्ष, उन्नत मस्तक;
गौर वर्ण, पर चिता-धूम्र की धूसरता है विक्षोभक।
अस्त-व्यस्त से बढ़े हुए हैं केश-शीश औ' दाढ़ी के;
संकल्पों से घिरा हुआ है-मरघट की रखवाली के।
एक मात्र लंगोट लगाये, अनघड़ दण्ड लिये कर में,
रूप विरूप बना है कैसा ? फँसा कहाँ किस चक्कर में ?

पाठक ! यह है वही अयोध्या-कौशल का अधिपति राजा;
बजता था जिसके महलों पर नित्य मधुर मंगल बाजा।
आज बने चाँडाल किस तरह करते मरघट-रखवाली;
मात्र सत्य के कारण भूपति ने यह विपदा है पाली।
धन्य-धन्य वे नर जग में जो धर्म-हेतु संकट सहते;
स्वर्ग-तुल्य सुख-वैभव तज कर, सत्य-धर्म को जय कहते।

हरिश्चन्द्र भावुक हैं फलतः प्रबल भावना-स्रोत बहा;
मरघट के दृश्यों का भैरव घोष हृदय में गूँज रहा।

"मानव-जीवन भी क्या जीवन ? क्षण भंगुर है, चंचल है;
अमल कमल के दल पर जल-कण परिकंपित हो, पल-पल है।

स्वर्णासन पर बैठ मनुज क्या अपनी अकड़ दिखाता है?
विश्व विजय कर दूर-दूर तक अपनी जय गुंजाता है।
पल-भर में सब नक्सा बदला, पड़ी विकट यम की छाया;
चला न कुछ भी जोर चिता पर बनी भस्म जल कर काया।
बड़े-बड़े बल वीरों के अब निशां कहाँ जग में बाकी;
मरघट में सब लुप्त पड़ी हैं उन की वह बाँकी-झाँकी।
पुष्प-भार जो सह न सके थे आज लक्कड़ों के नीचे;
ज्वालाओं में झुलस रहे हैं नेत्र-कमल अपने मींचे।"

गीत

मन मूरख ! क्यों दीवाना है;
जग सपना क्या गरवाना है ?
आज खिला जो फूल चमन में,
कल उसको मुरझाना है !
आज खिली जो धूप तो कल को
घन-अँधियारा छाना है।
प्रात चढ़ा जो सूर्य गगन में;
शाम हुए छिप जाना है !
अभी उठीं जो लहरें जल में;
अभी उन्हें लय पाना है !

रात पड़ी जो ओस कमल पर,
हिलते ही ढल जाना है!
यह जीवन कागज की पुड़िया;
बूँद लगे गल जाना है!
चन्द रोज़ की जिन्दगानी पर;
क्यों पागल मस्ताना है!
कितना ही तू क्यों न अकड़ ले;
आखिर मरघट आना है!
कौन किसी का जग में, जिस पर;
यह सब झगड़ा ठाना है।
'अमर' सत्य पर तू बलि हो जा;
नाम अमर अपनाना है!

मस्तक में कुछ देर सिनेमा चला विरक्त विचारों का;
आते-आते ध्यान हुआ निज जीवन के व्यवहारों का!

"तारा! तेरी जैसी जग में विरल नारियाँ होती हैं;
पति के कारण कष्ट उठा सुख-वैभव से कर धोती हैं।
पति-प्रेम की भी सीमा है, तुमने तो आश्चर्य किया;
एक अपरिचित ब्राह्मण-हाथों हा, अपने को बेच दिया!
जिन सुकुमार करों से गूँथी नहीं पुष्प की माला-सी;
हन्त! उन्हीं से बर्तन मलती आज रंक की बाला-सी!"

"रोहित, प्यारे रोहित ! तुम हो कहाँ ? कष्ट क्या पाते हो ?
सूर्य-वंश के तिलक आज क्या तुम भी दास कहाते हो ?
शत-शत दासी जिसको अपने हाथों पर पुलकित रखतीं;
जरा-जरा-सी सर्दी-गर्मी की भी थीं चिन्ता करतीं।
आज वही युवराज क्षुधा से पीड़ित ठोकर खाता है;
जरा-जरा-सी भूलों पर नित सौ-सौ गाली पाता है !
हम पति-पत्नी, सत्य-धर्म के लिए बिके, संकट पाया;
भाग्य-सर्प से दृष्ट तनय तू वृथा साथ में दुख पाया।"

"प्रभो ! प्रभो ! क्या मेरे मुखसे निकला शब्द अमङ्गल का;
रोहित रहे सर्वथा रक्षित, जीवन-धन मुझ निर्बल का।"

भूप जरा यों स्तब्ध हुए, बस वाम नेत्र सहसा फड़का;
वज्र ध्वनि-सी हुई हृदय में भय से वक्षस्थल धड़का।

"अरे अमङ्गल शकुन हुआ क्यों ? अभी और क्या होना है ?
खड़ा हुआ हूँ अन्तिम हद पर, मरण शेष अब होना है !
भगवन् ! मेरा सर्वनाश हो, मृत्यु अभी बस हो जाए;
एक सत्य हां, रहे सुरक्षित, वह न कलंकित हो पाए !"

इतने में ही नारी का स्वर दिया सुनाई क्रन्दन-मय;
हरिश्चन्द्र झट चौंके उनका हृदय हुआ, बस रोदन-मय।

"अरे भयंकर अर्धरात्रि है घन का घोर उपद्रव है;
मरघट में नारी क्यों रोती ? रौद्र कर्म का ताण्डव है।"

हरिश्चन्द्र रोदन की ध्वनि पर क़दम बढ़ाए जाते हैं;
क्रन्दन के अति करुण वचन सोत्कम्प श्रवण में आते हैं।

"हा-हा पुत्र, वत्स, हा लालन! मुझे छोड़ कर कहाँ चला?
मुझ दुखिया के एकमात्र धन तुझको किसने कहाँ छला?
अरे हुआ क्या तेरा हँसना? कहाँ गई मोहक वाणी?
तनिक बोल, मैं बहा रही हूँ कब से आँखों का पानी!
आज विवर्ण वदन क्यों तेरा? तेज-हीन कंचन तन है;
शुष्क अधर सम्पुट हा कैसा? नहीं बोलता उन्मन है!
सींचा जिसके कुसुम गात को रक्त-विन्दु दे छाती पर;
निर्मम होकर चढ़ा सकूंगी उसे चिता पर अब क्यों कर!"

गीत

तू कौन-सी दुनियां में मेरे लाल है, आजा!
रोते हुए नयनों को मेरे हँसना सिखाजा!—ध्रुव

दिल ढूँढ रहा है कि मेरा लाल कहाँ है?
थोड़ी सी झलक देके इसे धीर बँधा जा!

दुनियां में तू ही था इक मेरा सहारा;
अब कैसे मैं जीऊँ, मुझे यह तो बता जा!

ऐ चाँद! तेरे विन मेरी दुनियां में अँधेरा;
उजड़ी हुई दुनियां को मेरी फिर से बसा जा!

हरिश्चन्द्र तो अभी न समझे, किन्तु आप तो परिचित हैं;
कौशल की सम्राज्ञी तारा पुत्र-शोक से दुःखित है।

हरिश्चन्द्र सोचते हृदय में—"अरे कहाँ मैं जाता हूँ;
पुत्र-शोक-सन्तप्त विकल अबला को हाय सताता हूँ!
भाग्य-दोष से मिला मुझे क्या कर्म घोर निर्दय निन्दित;
वस्त्र माँगना होगा, इसको करना होगा हा दुःखित!"

मन पीछे को भाग रहा है, किन्तु देह आगे चलता;
स्वामी की आज्ञा के कारण कठिन कार्य करना पड़ता।

विद्युत का आलोक हुआ जब, देखा निज सम्मुख आता—
रौद्र रूप प्रत्यक्ष काल-सा, तारा का दिल घबराता।

क्षत्रिय बाला थी साहस कर बोली—"अरे कौन है तू?
मेरा लाल चुराने आया, समझ गई अन्तक है तू।
हटजा तू मेरी आँखों के आगे से, मत साहस कर;
मेरे जीते जी प्रिय-सुत को ले न सकेगा रजनीचर!"

हरिश्चन्द्र थे विस्मित—"यह क्या धधक उठी सहसा ज्वाला!
अभी-अभी तो दैन्य-शोक का बहता था गद्-गद् नाला!"

"देवी! मैं यमराज नहीं हूँ, और न कोई दानव हूँ;
विपद्ग्रस्त हतभाग्य तुम्हारी तरह, एक लघु मानव हूँ।

वृथा शोक क्यों करती हो? जग की यह रीति सनातन है;
मानव की यह अन्तिम परिणति, क्षण-नश्वर नर का तन है।
क्या मानव, क्या देव सभी को एक दिवस यह आता है;
पलभर में ही मृत्यु कहीं से कहीं, उड़ा ले जाता है।
हाँ, अवश्य ही दुःख भयङ्कर, पुत्र-मृत्यु क्या वज्र-पतन!
मातृ-हृदय की इस ज्वाला का जीवन भर होता न शमन!
किन्तु हाथ की बात नहीं कुछ, यह दुख सहना ही होगा;
धैर्य तथा सन्तोष अन्ततः दिल में भरना ही होगा!"

तारा इस सौजन्य-पूर्ण मृदु करुणा-वाणी को सुन कर–
समझी–"यह है कोई सज्जन, करुणा-ममता का सागर।"

"नमस्कार, तुम कौन अपरिचित? दर्शन देने आए हो;
स्वर से नहीं विभीषण, जैसा भीषण रूप बनाए हो।
क्या तुम सचमुच मुझसे ही हतभाग्य कर्म के मारे हो;
अथवा कोई छद्म-वेश धर देव दयालु पधारे हो!
सकरुण-कण्ठ, मधुर स्वर कैसा? तुम वर देव विनिश्छल हो;
मुझ दुखिया का दूर करो दुख, तुम शरणागत वत्सल हो!
अब क्या और परीक्षा लेते इस छल का परित्याग करो;
आये हो तो कृपा करो कुछ, मेरा जीवित पुत्र करो!"

तारा गद्‌गद स्वर से रोती और प्रार्थना करती है;
पाकर समवेदना हृदय की पीड़ा और उभरती है।

"भद्रे ! क्यों विश्वास न करती ? स्पष्ट सत्य मैं कहता हूँ;
देव नहीं, हत भाग्य मनुज मैं, इस मरघट में रहता हूँ !
रात्रि-दिवस का वास यहाँ है, मृतक-दाह करवाता हूँ;
अर्ध कफन कर लेता हूँ, निज जीवन-काल बिताता हूँ !
तुम भी सोचो, मरे हुए भी भला कभी जीवित होते;
प्राणी, यम के मुख में जाकर कभी नहीं वापस होते !
देव, अगर जीवित कर दें तो फिर क्यों आप विवश मरते !
सुर हो, नर हो, या कोई हो विधि के लेख नहीं टरते।
प्रतिदिन मरघट में ऐसे ही दृश्य भयंकर आते हैं;
पुत्र, पिता, माता, पति, पत्नी रोते हैं, कलपाते हैं !
क्रन्दन की ध्वनि सुनते-सुनते वज्र-कठोर बन गया मैं;
मात्र शरीर खड़ा है, दिल से करुणा-शून्य बन गया मैं।
अच्छा देवी, धरो धीर तुम, व्यर्थ न हा-हा कार करो;
अर्ध कफन दो मुझको, आओ शीघ्र मृतक-संस्कार करो।"

तारा सुन कर बात नृपति की, दीन-भाव से रोती है;
भूत और सम्प्रति की भीषण टक्कर मन में होती है।
कौशल की सम्राज्ञी पर क्या संकट की बदली छाई;
हा, प्रिय सुत के लिये कफन का वस्त्र न आज जुटा पाई !

"मैं दुखियारी, मुझ सम कोई और न जग में निर्भागन;
फँसी हुई हूँ बड़ी विपद में, निःसहाय अबला-जीवन।

लाज बड़ी आती है, फिर भी मौन रहे क्या होना है ?
कफन नहीं तो अर्ध कफन का, प्रश्न कहाँ हल होना है ?"

भूपति चौंक उठे यह सुनकर–"अरे कहा क्या कफन नहीं ?
ऐसा क्या दारिद्र्य् ? जगत में ऐसा होता कभी कहीं ?
घर में क्या कोई न ? अकेली जो तुम मरघट में आई;
क्या तुम विधवा निःसहाय हो ? जो ऐसी विपदा पाई।"

"क्षमा करें, ऐसा न बोलिये प्रभु-करुणा से सधवा हूँ;
कैसे तुमने समझ लिया, मैं विश्व-अमंगल विधवा हूँ ?"

"क्षमा कीजिये, देवी ! मुझको दुःस्थिति ने भ्रम में डाला;
पति होते यह दुरवस्था क्यों ! समझ न पाया मैं बाला !
पति है तब भी क्या है ? निष्ठुर साथ न तेरे आया क्यों ?
दे न सका जो कफन पुत्र को वृथा जनक-पद पाया क्यों ?
उस पति को धिक्कार अनेकों, वह पति-नाम लजाता है;
इस प्रसंग में भी पत्नी की जो न मदद कर पाता है।"

इतना सुनना था, तारा का हृदय खेद से खिन्न हुआ;
मानों वज्र विषाक्त छुरी के द्वारा सहसा भिन्न हुआ।
कष्ट न पाया राज्य त्याग कर, ब्राह्मण की दासी बन कर;
आज असह्य कष्ट था मन में निज पति की निन्दा सुनकर।
"हा भगवन् ! मैं क्या सुनती हूँ निष्ठुर हैं पति प्राणेश्वर;
और विपद चाहे कितनी हो किन्तु न निन्दित हों प्रियवर !"

पति की निन्दा सुन न सकी गंभीर उष्ण स्वर में बोली;
जैसे क्रुद्ध सिंहिनी गर्जे लगते ही तन में गोली!

"सावधान! मरघट के रक्षक! क्यों कलुषित जिह्वा करते?
बिना किसी को जाने बूझे, क्यों असत्य निन्दा करते?
तुम न जानते मेरे जीवन-प्राण सत्य के पालक हैं;
कर सर्वस्व निछावर जग में पुण्य-धर्म संचालक हैं।
सत्य धर्म की रक्षा के हित राज्य-त्याग संकट भोगा;
वन्दनीय, महनीय जगत में ऐसा और न जन होगा!
मुझको मेरे स्वामी ने किस संकट में पड़कर छोड़ा?
पर के हाथ सौंपते मुझको कैसे अपना मन तोड़ा?
आता है जब दृश्य याद वह-दुःख भयंकर होता है;
घंटों ही दिल तड़प-तड़प कर सिसक-सिसक कर रोता है।"

भूपति, इतना सुनते ही बस चमक उठे उद्भ्रान्त हुए;
बिजली-सी दौड़ी सब तन में, प्राण शुष्क-उत्क्रान्त हुए।

"हैं! हैं!! वह है कौन? सत्य के लिये राज्य जिसने त्यागा;
संकट में पड़, पर के हाथों तुमको भी जिसने त्यागा।
बोलो, बोलो जल्दी बोलो, कौन तुम्हारे प्रिय पति हैं?
सुत-पत्नी का परित्याग कर, रहे सुदृढ़ प्रण के प्रति हैं।
क्या तुम ही, हतभाग्य अयोध्या-पति की रानी तारा हो;
क्या तुम ही ब्राह्मण के हाथों बिकी किंकरी तारा हो।

क्या यह मृतशिशु, उसी अभागे हरिश्चन्द्र की सन्तति है;
क्या! सचमुच ही सूर्यवंश के गौरव की यह दुर्गति है ?
आज तुम्हारे एक वाक्य पर निर्भर जीवन-गति मेरी;
बोलो, जल्दी बोलो, देवी ! डोल रही है मति मेरी !"

मरघट-रक्षक की इन अद्भुत बातों को सुनकर तारा;
खड़ी होगई मूक स्तब्ध-सी, बही आँसुओं की धारा !

प्रकृति नटी ने इतने में ही चमत्कार निज दिखलाया;
विद्युत का आलोक प्रखर तर वसुधा-मण्डल पर छाया !

स्पष्ट रूप से, दोनों ने ही एक दूसरे को देखा;
भूपति सिहर उठे, तारा की देख क्षीण तन की रेखा !

"तारा ! तारा !! मम प्राणों का प्यारा रोहित चला गया;
चला गया क्या, मेरा जीवन हाय, धूलि में मिला गया !"

पति-पत्नी दोनों ही सहसा रोहित-शव से चिपट गये;
एक बार तो हुए विमूर्च्छित हन्त मृत्यु के निकट गये।
जीवन-दाता सरस मेघ ने शीतल जल-कण बरसा कर;
पुनः चेतनारूढ़ किये तो उठे अश्रु-जल बरसा कर।

तारा, पति के चरणों में गिर सिसक-सिसक कर रोती है;
नाथ ! नाथ ! कहती है, फिर-फिर शोक विमूर्च्छित होती है।

"नाथ ! शोक है, लज्जा है, किस मुख से अब बोले तारा;
उचित नहीं सर्वस्व लुटा कर हृदय-द्वार खोले तारा !
रोहित-सा निधि मुझको सौंपा, किन्तु न रक्षा कर पाई;
हँसता-खिलता लिया आपसे, आज लाश लेकर आई !
भूखा था वन में फल लेने गया, नहीं वह फिर लौटा;
विषधर ने काटा, हा मेरा भाग्य सर्वथा ही खोटा !
कैसा था दुर्भाग्य-पूर्ण दिन ? कैसा दुःख-दृश्य लाया ?
नहीं पता किस भ्रष्ट जन्म का पाप उदय में हा आया ?
हाय ! आज से पुत्रवती मैं, हुई निपूती-हत्यारी;
पुत्रवती माताएँ मुझसे घृणा करेंगी अति भारी !"

हरिश्चन्द्र भी उधर पुत्र की दशा देखकर रोते हैं;
लेकर लाश गोद में, आँसू बरसा उसे भिगोते हैं।
"हा प्रिय रोहित ! आँख बन्द कर क्या सुपना-सा देख रहे;
बोलो, बोलो पिता तुम्हारे प्यारे तुम्हें परेख रहे।
रूठ रहे हो, क्या माता ने आज तुम्हें कस कर डाँटा;
क्या सचमुच ही किसी भयंकर विषधर ने तुमको काटा ?
आयुष की रेखा तो इतनी लंबी, कैसे मर सकते ?
ऋषियों की वाणी को, तुम-से भद्र न मिथ्या कर सकते !
कैसा सुन्दर मुखड़ा ? कैसी कमल-सदृश आँखें प्यारी;
भुज प्रलम्ब, वक्षस्थल विस्तृत, आनन-चन्द्र मनोहारी !

क्या आँखें, इस मधुर मूर्ति को फिर न देखने पाएँगी;
शोक-विकल नित आँसू बरसा क्या अन्धी हो जाएँगी!
मरने की मेरी बारी है, तुम क्यों पुत्र वृथा जाते?
आये ही थे यदि इस जग में, कुछ तो खेल दिखा जाते!
जप, तप, दान, सत्य क्या मेरा यों ही निष्फल जाएगा;
क्या अधर्म के आगे मेरा दिव्य धर्म गिर जाएगा!
तारा! बोलो, अब रोहित के बिना जगत में क्या जीना?
हम भी उसी मृत्यु के मुख में जाएँ, जिसने सुत छीना!'

भूपति उन्मादी-से सहसा खड़े होगये मरने को:
अन्तः स्फुरणा ने झट रोका, सत्य धर्म दृढ़ रखने को!

"अरे, अरे! क्या करता हूँ मैं? कुछ भी होश न हा मुझको:
यह क्या मैंने पाप विचारा? क्या शैतान लगा मुझको!
मैं हूँ दास, अतः मेरा निज तन पर भी अधिकार नहीं;
कैसे मर सकता हूँ, जब तक हटे हाय ऋण-भार नहीं!
आत्म-घात है पाप भयंकर, धर्म-शास्त्र बतलाते हैं:
आत्म-घात करने वाले नर, सद्गति कभी न पाते हैं।
हे भगवन्! यह पाप मानसिक हुआ आज मुझसे भारी;
करना क्षमा, क्षमा के सागर! दुख में मति जाती मारी।
अब तो मैं चाण्डाल-दास हूँ, कहाँ नृपति हरिचन्द रहा?
तारा औ' रोहित से—मेरा अब कैसा सम्बन्ध रहा?

मोह-विवश होकर, मैं पागल भूल रहा हूँ अपना पथ;
धोखा देता हूँ स्वामी को, कहाँ भटकता मन का रथ ?"

मोह-मस्त हो गिरते थे नृप, किन्तु शीघ्र ही स्वस्थ हुए;
सत्य सूर्य फिर चमक उठा, घनघोर मोह-घन ध्वस्त हुए।

"तारा ! जो कुछ हुआ, हुआ बस, अब रोने से क्या फल है ?
मरने वाला लौट न सकता, नियम प्रकृति का अविचल है।
अब तो दिल पर पत्थर रख लो, धैर्य धरो, अन्त्येष्टि करो;
मरघट का कर अर्ध कफन दो, अब न पुत्र पर दृष्टि करो।
देखो उषा पूर्व में झलकी, सूर्य उदय होने वाला;
लज्जा शेष बची है, वह भी कहीं विनष्ट न हो बाला !
अगर देख पहचान हमें ले कोई तो फिर क्या होगा ?
ब्राह्मण-दासी, श्वपच-दास, यह रात्रि मिलन न भला होगा।"

"नाथ ! भूल जाते हैं, मैंने कहा पूर्व ही कफन नहीं;
'दासी हूँ'–इतने में समझें, मर्म-व्यथा की हद न कहीं ?
हाय, आपका पुत्र बुभुक्षित, भोजन तक भी नहीं मिला;
आज मृत्यु, तन ढँकने को हा, मृतक-वस्त्र भी नहीं मिला।"

"देवी ! यह कर्मों की लीला, इस पर किसका वश चलता ?
जो कुछ लिखा कर्म में मिलता, जरा नहीं अणुभर टलता।

जो बीता सो बीत गया, अब बीते पर पछताना क्या ?
बोलो कफन नहीं देती तो सुत-शव नहीं जलाना क्या ?"

"प्राणेश्वर ! कुछ तो निज सुत का स्नेह हृदय में रखिएगा;
आप पिता हैं, कुछ तो गौरव अपने पद का रखिएगा।
कैसा है अन्याय, पिता ही कफन पुत्र का माँग रहे;
कफन नहीं है, फिर भी अपना हठ न व्यर्थ का त्याग रहे।
देख रहे हैं कहाँ कफन है ? दुखिया को अब रहने दो;
क्षमा माँगती हूँ, प्रिय सुत का दाह-कर्म अब होने दो !"

तारा विवश रो रही, भूपति हरिश्चन्द्र भी रोते हैं;
दोनों ही मन पर हिम गिरि-सा भार शोक का ढोते हैं।

हरिश्चन्द्र बलपूर्वक अपने आँसू रोक, पुनः बोले;
कैसी विकट परिस्थिति है फिर भी न धर्म-पथ से डोले।

पाठक ! मेरे कलियुग-वासी सोच रहे हैं, यह क्या है ?
व्यर्थ कदाग्रह भूपति करते, इसमें भला हर्ज क्या है ?
हरिश्चन्द्र पर धर्मवीर है, कहो धर्म कैसे छोड़े ?
न्याय-नीति का रक्षक है, फिर न्याय-नीति कैसे तोड़े ?
धर्म वही है, जो संकट की घड़ियों में भी भंग न हो;
सुख की मस्ती में तो किसको कहो धर्म का रंग न हो ?

गीत

मनुष्य क्या, अदृष्ट की जो ठोकरें न सह सके;
मनुष्य क्या, जो संकटों के बीच खुश न रह सके।
मनुष्य क्या, तूफान से जो क्षुब्ध भीम-सिन्धु में;
उठा के शीश वेग से न लहर बन के बह सके।
मनुष्य क्या, जो चमचमाते खंजरों की छाँह में;
हाँ, मुस्करा के, गर्ज के न सत्य बात कह सके।
मनुष्य क्या, जो रोते-रोते चल बसे जहान से;
दिखा प्रचण्ड आत्म-बल न भीष्म राह गह सके।
मनुष्य क्या, जो वासना का पुष्पहार पा 'अमर'
हिमाद्रि-शृंग से भी ऊँचे अपने प्रण से ढह सके!

वीर पुरुष की संकट में भी धर्म-भावना बढ़ती है;
उल्टी करने पर भी अग्नि-ज्वाला ऊपर चढ़ती है।
मामूली लालच की खातिर, धर्म नष्ट करने वाले;
देश, जाति, औ' धर्म सभी को धोखा नित देने वाले!
जरा देख लें हरिश्चन्द्र को, कैसे सच पर खड़ा हुआ?
कौन देखता है? फिर भी किस भांति धर्मपर अड़ा हुआ?

"तारा! मन को शान्त बना कर अटल, अचल, दृढ़, धीर रहो;
धैर्य, धर्म की होती है बस आज परीक्षा, वीर रहो!

पत्थर मैं हूँ नहीं, पुत्र का दर्द मुझे भी गुरुतर है;
किन्तु सत्य की रक्षा का भी, देवि ! यही शुभ अवसर है।
स्वामी की आज्ञा है, आधा कफ़न लिए बिन दाह न हो;
कैसे आज्ञा भंग करूँ मैं, प्रिये ! सँभल, गुमराह न हो।
जिसके लिए राज्य तज, तुमको बेंच श्वपच का दास बना;
कैसे-कैसे भीषण संकट सहे, विपद् का जाल तना !
उसी धर्म को, आज आध गज कपड़े पर न छुड़ाओ तुम;
प्राणों से भी प्यारी मेरी मर्यादा न तुड़ाओ तुम।
तारा ! तुम तो मुझ से बढ़ कर सदा धीरता रखती थी;
जब भी ढीला होता मैं तब, तुम्हीं सत्य पर अड़ती थी।
आज मोह में भूली कैसे अपनी अविचल दृढ़ता को;
तारा ! सँभलो, करो शीघ्रतर दूर मोह की जड़ता को।"

भूपति के दृढ़ वचन श्रवण कर, तारा ने साहस धारा;
धन्य-सुधन्य दम्पती जग, में धर्म नहीं अपना हारा।

"नाथ ! मोह में भूल गई थी, सत्य-धर्म के गौरव को;
धन्य, आपने नष्ट किया अज्ञान-भ्रान्ति के रौरव को !
और नहीं कुछ पास, देव ! यह फटी पुरानी साड़ी है;
मुझ ग़रीब-दुखिया की लज्जा यही ढाँपने वाली है।
अर्ध कफन-कर के बदले में, आधी अर्पण है लीजे;
दाह-कर्म रोहित का अब तो न्यायसिद्ध है कर दीजे।"

तारा ज्यों ही लगी फाड़ने साड़ी का अंचल, कर से;
जय-जय ध्वनि के साथ गगन से त्यों ही दिव्य पुष्प बरसे!
गंधोदक की वर्षा से वह मृतक-भूमि महकी अति ही;
शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन से बदली शीघ्र प्रकृति-गति ही।
देव-वाद्य दुन्दुभि की मधुर-ध्वनि से गूँजा दिङ्मंडल;
स्वच्छ-नील नभ में देवों का ठाठ जुड़ा, मंजुल-मंगल।
सत्य-धर्म के विजय-गीत, सानन्द देवियों ने गाए;
शोक-दृश्य परिलुप्त हुए, चहुँ ओर हर्ष के घन छाए।

रोहित जाग उठा मूर्च्छा से, किया मात-पितु को वन्दन;
बही हर्ष की निर्मल गंगा, बना शीघ्र मरघट नन्दन।

———

सत्य की विजय

सत्य-धर्म का विश्व में तेज प्रताप अखण्ड;
भौतिक बल को ध्वस्त कर, पाता विजय प्रचंड !

मात्र सत्य ही अखिल जगत में मानव-जीवन का बल है;
विना सत्य के सबल-प्रबल भी तुच्छ, सर्वथा निर्बल है।
पशु-बल आखिर पशु-बल ही है कितना ही वह भीषण हो:
सत्य-धर्म की टक्कर खाकर क्षण में जर्जर, कण-कण हो !
संकट नहीं, परीक्षा है यह यदि साहस-पूर्वक सहलें;
क्षण-भंगुर संसृति में मानव अमर नाम अपना करलें !

हरिश्चन्द्र के सत्य धर्म का चमत्कार देखा तुमने ?
अन्तिम विजय दम्भ पर पाई किस प्रकार देखा तुमने ?

संकट क्या-क्या सहन किए, पर रहा पूर्णतः अविचल वह:
स्वर्ण, अग्नि की ज्वाला में से निकला बनकर निर्मल वह !

सत्य हरिश्चन्द्र

सत्य-सूर्य की प्रभा स्वर्ग में पहुँची, सुर-मण्डल आया;
देव-राज वासव ने आकर चरण-कमल में शिर नाया;
रत्न-जटित स्वर्णिल-आसन पर राजा-रानी बिठलाए;
रोहितमुदित गोद में नृप की, शोभा अति सुन्दर पाए!

दुन्दुभि-नाद श्रवण कर काशी-नगरी की वासी जनता;
मरघट में झट दौड़ी आई, बड़ी सत्य की पावनता।
काशी के भूपति भी आए हरिश्चन्द्र की सुन महिमा;
खींच न लाती किसको जग में बड़ी त्याग की है गरिमा!

कौशिक ऋषिवर, आज प्रेम की मूर्ति बने सम्मुख आए;
राजा-रानी ने वन्दन कर सिंहासन पर बिठलाए।

राजन्! सत्य-धर्म की अद्भुत महिमा तुमने दिखलाई;
अग्नि-परीक्षा में भी तुम पर ज़रा नहीं कालिख आई!

कौन सत्य के लिए तुम्हारे जैसा संकट सह सकता?
सुत-वियोग-से वज्र-पात पर कौन धीर-दृढ़ रह सकता?
कैसा अद्भुत त्याग? राजसी वैभव पल भर में छोड़ा,
कैसा उज्ज्वल सत्य? प्रिया को कफ़न न सुत का भी छोड़ा!
विश्वामित्र अजेय-शक्ति, पर आज पराजित है तुमसे।
उच्छृङ्खल निज कर्तव्यों पर आज विलज्जित है तुमसे!
मैं मूरख क्रोधान्ध बना क्यों? क्यों तुमसे विग्रह छेड़ा?
विग्रह क्या छेड़ा? मुनि-पद का डुबा दिया अथ-इति बेड़ा!

तुम अपूर्व विजयी, इस रण में पतन हुआ मेरा भारी;
कहाँ साधुता का वह जीवन ? बना घोर पापाचारी।
रोहिताश्व पर सर्प-दंश की माया भी, मैंने डारी;
बड़ा खेद है, तुम दोनों को कष्ट दिया मैंने भारी।
तुमने दिखा दिया त्रिभुवन को, जिसका धर्म सहायक हो;
ध्वस्त न उसको कर सकता है, कोई भी जग-नायक हो !
आज तपोबल, सत्य-शक्ति के सम्मुख शीश झुकाता है;
क्षमा कीजिए, कौशिक अपनी करणी पर पछताता है !"

हरिश्चन्द्र ने हाथ जोड़ कर कहा—"प्रभो, यह क्या कहते ?
आप धर्म की मूर्ति ऋषीश्वर, भला कभी दुष्पथ गहते ?
सत्य-धर्म की करी परीक्षा, बड़ी कृपा की हे भगवन् !
मिला तुम्हीं से मुझ सेवक को यह सब गौरव मनभावन !
स्वर्ण-परीक्षक जबकि स्वर्ण को पावक मध्य तपाता है;
द्वेष नहीं रखता है प्रत्युत द्विगुण तेज चमकाता है।
मैं दुर्बल अति दीन व्यक्ति हूँ, मुझमें इतनी शक्ति कहाँ ?
सत्याग्रह का जो कुछ बल है सन्तों का ही दिया यहाँ।
सद्गुरु कुम्भकार से उपमित, ऊपर चोट लगाते हैं;
गुप्त-रूप से फिर भी घट को अन्दर खूब बचाते हैं।
तर्जन का, संरक्षण का यह मान्य प्रयोग हितंकर है;
इसमें हो तप होता मानव यहाँ सत्य-शिव-सुन्दर है।

क्षमा कीजिये, उच्छृंखल हूँ, वृथा आपको क्रुद्ध किया;
शान्त तपस्वी जीवन को इस झगड़े में ला क्षुब्ध किया।"

देख लिया भारत का गौरव ! कितनी मृदु सज्जनता है;
अपकारी के प्रति भी कितनी स्नेहमयी भावुकता है ?

सज्जन तो होते हैं चन्दन, महक न निज कम कर सकते;
अंग-विभेदक खर-कुठार का मुख सुगन्ध से भर सकते।

मूल स्रोत संकट का, वह सुर नम्र भाव से अवनत हो;
आकर भूपति के चरणों में झुका प्रेम से गद्गद हो !

"कौशलेन्द्र ! यह दोष न ऋषि का, दोष सभी कुछ है मेरा;
स्वर्ग-लोक में आकर भी हा दुर्मति ने मुझ को घेरा !
देवराज ने करी आपके सत्य-धर्म की स्तुति भारी;
मैंने ठीक न समझा, कैसा निकला अति पापाचारी ?
सिद्धाश्रम की पुष्प वाटिका मैंने ही तुड़वाई थी;
शान्त तपोधन ऋषि को, गर्मी मैंने ही दिलवाई थी !
क्षमा कीजिए वीर-शिरोमणि ! दया कीजिए दया-सदन !
लज्जित हूँ निज दुष्ट वृत्ति पर, हुआ विजित तुमसे राजन !"

भूपति ने सानन्द स्नेह से किया क्षमा, निर्जर को भी;
जय-जय ध्वनि से, जन समूह ने गुँजादिया अंबर को भी !

मरघट-स्वामी भंगी आया, उतरे नृप सिंहासन से;
भूल न होती कभी, नीति के पालन में नर-सज्जन से।

हाथ जोड़कर कहा श्वपच ने क्षमा कीजिए प्रभु मुझ पर;
किया बुरा व्यवहार सर्वदा नारी ने, मैंने तुम पर।

भूपति बोले हँस कर—"स्वामी ! यह क्या उल्टी कहते हैं;
स्नेही, मृदुल, दयानिधि स्वामी, कहाँ आप-से मिलते हैं ?
यह प्रताप, सब एक तुम्हारी करुणा का ही मृदु फल है;
संकट में की रक्षा मुझको अपना, कितना दृढ़ बल है ?
क्रुद्ध स्वामिनी, किन्तु कृपा है, उनकी तो मुझ पर भारी;
मरघट-रक्षक बना तभी तो हुआ सुयश का अधिकारी !"

वृद्ध विप्र नालायक सुत को लेकर कम्पित-सा आया;
तारा-द्वारा सत्कृत होकर विस्मय अति मन में पाया।

ब्राह्मण-सुत ने दीनभाव से रानी के चरणों में गिर—
माँगी क्षमा स्व-अपराधों की, लज्जा से था अवनत शिर !

"मैं पापी-निर्लज्ज, मूढ हूँ कष्ट दिया तुमको अनुचित;
क्षमा कीजिए जान न पाया दुराचार से मन दूषित !"

शान्तभाव से तारा बोली—"क्षमा कीजिए आप मुझे;
ठीक समय पर आ न सकी मैं झंझट ने छोड़ा न मुझे।

आप बड़े हैं स्वामी हैं, क्या दोष आपका हो सकता ?
दासो का जीवन ही ऐसा, आहत कैसे हो सकता ?
पिता आपके विपद-सहायक, उपकारी करुणासागर;
भूल न सकती, सत्य-धर्म की रक्षा की निज धन देकर !
यही प्रार्थना, आप आज से दुराचार का त्याग करें;
पूज्य पिता का पथ अपनाएँ, सदाचार-अनुराग करें !"

ब्राह्मण-सुत ने करी प्रतिज्ञा, दुराचार का त्याग किया;
सदाचार सादर अपना कर जीवन का पथ पलट दिया !

सज्जनता इसको कहते हैं, अपकृत पर भी द्वेष नहीं;
प्रेमामृत से भरा हृदय है, दुर्विचार का लेश नहीं !

कौशिक ऋषि ने पुनः अन्त में कहा—"अयोध्या चलिएगा;
राज्य-भार वापस करता हूँ, मुझे मुक्त अब करिएगा।
मैं तो भूल गया सब जप-तप फँसा राज्य की उलझन में;
आध्यात्मिक जीवन का होता पतन, विभव-सुख-वर्तन में !"

देवराज ने भी कौशिक का किया समर्थन आग्रह से;
"क्षमा कीजिए अब तो ऋषिजी दुःखित पूर्व दुराग्रह से।
देख रहे हैं सत्याग्रह ने किया हृदय का परिवर्तन;
कौशिक से क्रोधान्ध भिक्षु का बना शान्त इस क्षण जीवन !"

भूपति बोले—"राज्य दान में दिया न वापस हो सकता;
हरिश्चन्द्र अपनी मर्यादा कभी नहीं यों खो सकता!
सत्य धर्म की रक्षा के हित क्या-क्या कटु संकट झेला?
आज राज्य अपना कर कैसे करूँ सत्य की अवहेला?"

कौशिक ने सस्नेह गिरा में कहा—"आपको क्या उलझन?
राज्य वस्तुतः लिया न मैंने यह तो था खाली तर्जन!
सत्य धर्म से तुम्हें डिगाने भर को थी सारी माया;
अब सब झगड़ा खत्म होगया, सत्य नहीं डिगने पाया!"

राज्य लिया हो तुमने ऋषिवर! क्यों न किसी भी कारण से?
पर मैंने तो दान दिया है, निश्छल, शुद्ध-सत्य मन से।
एक बार जब धर्म-वृत्ति से दान दिया, फिर क्या लेना?
शिशु-क्रीड़ा यह नहीं कि पल में देना, फिर पल मे लेना!"

इन्द्र देव ने कहा कि—"राजन्! ठीक आपका कहना है;
किन्तु सत्य कहते हैं ऋषिभी अतः उचित पथ गहना है।
क्या यह होगा ठीक ऋषीश्वर, राज्य-कार्य में फँसे रहें;
शान्त हृदय से जरा विचारें भावुकता का मार्ग गहें।"

हरिश्चन्द्र ने कहा—' आप ही बतलाएँ, अब क्या करना?
समाधान मेरा न हुआ है, नहीं सत्य से है टरना!

भावुकता का प्रश्न नहीं है प्रश्न सत्य का अड़ता है;
आँख बंद कर कुछ कर लेना भावुकता कब? अड़ता है।"

विश्वामित्र सँभल कर बोले—"एक बात है और सुनें;
मुझको आशा है अवश्य ही अब तो मध्यम मार्ग चुनें।
मैं अपने कर से रोहित को राज-मुकुट पहनाता हूँ;
एक छत्र कौशल जन-पद का राजा आज बनाता हूँ!
रोहित बालक, अस्तु न जब तक कर सकता है राज्य-वहन;
तब तक आप बनें अभिभावक, इतना तो पालिए कहन!"

इतना सुनना था, जनता की गर्ज उठी कल कल धारा;
ठीक-ठीक है—कहकर लगने लगा जोर से जय नारा।

हरिश्चन्द्र ने भी जनता का यह आग्रह स्वीकार किया;
पुष्प-वृष्टि कर देवों ने तब दुन्दुभि से जयकार किया।

हरिश्चन्द्र ने कहा—"अयोध्या में तब तक कब जा सकता?
ब्राह्मण और श्वपच का सब ऋण जब तक नहीं चुका सकता।"

विप्र और भंगी ने सादर कहा—"हमारा क्या बन्धन?
हमको कुछ भी नहीं चाहिये, कृपा चाहिये बस राजन्!"

वर्जन करते भी सुरपति ने लक्षाधिक वैभव दीना;
हरिश्चन्द्र-तारा रानी को मुक्त दासता से कीना!

सत्य हरिश्चन्द्र

धन्य-धन्य हे भारत माता! धन्य तुम्हारा गौरव है;
हरिश्चन्द्र से लाल दिये, जिनका यश, अक्षय वैभव है।
सत्य-धर्म पर अपना सब कुछ, सुख वैभव-उत्सर्ग किया;
प्राण-प्रकम्पक कष्ट सहे, पर कभी नहीं उन्मार्ग लिया।
हार मानकर कौशिक ने जब राज्य पुनः देना चाहा;
दत्त दान अग्राह्य मान कर, नहीं स्वयं लेना चाहा!
चाहा क्या, बस लिया न बिल्कुल सत्य-धर्म पर अचल रहे;
स्फटिक रत्न के तुल्य सर्वदा अपने व्रत में अमल रहे!

उपसंहार

भोग-वासना त्याग कर जो बनता निष्काम;
अजर, अमर आनन्दमय पाता वह शिव-धाम।

अखिल विश्व में सबसे ऊँचा
जीवन, मानव-जीवन है;
मानवता ही सबसे बढ़ कर
अजर-अमर अक्षय धन है।

स्वर्ग-लोक के देव मनुज-भव
पाने की इच्छा करते;
मानवता-द्वारा ही ऋषि मुनि
दुस्तर भव-सागर तरते!

मानव-तन पाकर भी जो नर,
जीवन उच्च बना न सका;

सत्य हरिश्चन्द्र

समझो चिन्तामणि पाकर वह
निज रंकत्व मिटा न सका !

पूर्व-काल में नर जीवन के
चार विभाग बनाते थे;
ब्रह्मचर्य - पालक, गृहमेधी,
साधक, विरत कहाते थे।

अन्तिम दम तक भी यदि मानव
त्याग न सके विकारों को;
वह मानव क्या, मानव-पशु है;
अपनाये कुविचारों को !

श्वेत-केश वृद्धत्व-भाव के
आने से जो पहले ही,
त्याग भोग वैराग्य धारलें,
धन्य मनुज वे विरले ही !

श्री रोहित के प्रतिनिधि बनकर
किया प्रजा पर शुभ शासन;
हरिश्चन्द्र का यश, जग-फैला
श्रेष्ठ धर्म का अनुशासन।

दुराचार, अन्याय आदि का
नाम-शेष ही कर डाला;
सदाचार, सद्धर्म, न्याय को
करी समर्पण जय-माला।

रोहित शिक्षित-दीक्षित होकर
राज्य-वहन के योग्य हुए;
हरिश्चन्द्र भी राज्य सौंपकर
मुनि-जीवन के योग्य हुए।

हरिश्चन्द्र-तारा ने दीक्षा-
धारण की, जप-तप कीना;
अपना कर कैवल्य ज्ञान फिर
पूर्ण शुद्ध शिव पद लीना।

धन्य-धन्य नृप हरिश्चन्द्र हैं
धन्य-धन्य तारा रानी;
सत्य-धर्म की रक्षा के हित
झेली क्या-क्या हैरानी!

अजर-अमर यश जग में अब तक
शास्त्र-कार नित गाते हैं;
जीवन-वृत्त श्रवण कर पुलकित
श्रोता नहीं अघाते हैं।

सत्य हरिश्चन्द्र

सर्वोत्तम था यह जीवन भी
सर्वोत्तम वह जीवन है;
जन्म मृत्यु का स्पर्श नहीं अब
चरणों में नित वन्दन है।

पाठक वृन्द! विश्व में केवल
शुद्ध सत्य की पूजा है,
मानव की महिमा का सच मुच
कारण और न दूजा है।

अगर हृदय से पाप-कर्म का
कुत्सित कलि-मल धोना है,
श्रेष्ठ सत्य अपनाएँ, बेड़ा
पार इसी से होना है।

हरिश्चन्द्र का श्रेष्ठ सत्य-पथ
स्पष्ट आपके सम्मुख है;
वीर-धीर बन चलें निरन्तर
बाधाओं का क्या दुख है?

बाधाओं पर विजय प्राप्त कर
जो निज सत्य निभाता है;
नर से नारायण की पदवी
वही जगत में पाता है।

सार यही है धर्म-कथा का
तदनुसार जीवन करलें;
पूर्ण नहीं तो कुछ तो मन में
धार्मिकता का रस भरलें।

भूमण्डल पर हरिश्चन्द्र के-
सुयश नित्य गाए जाएँ;
सदाकाल सर्वत्र सत्य की
विजय पताका फहराएँ!

गीत

तू मानवता अपना ले रे;
यह जीवन मधुर बनाले!—ध्रुव

यह धन कंचन मृदु काया,
सब सपने की है माया,
क्या इस पर जी ललचाया,
तू त्याग की तान लगा लेरे!

मन झूठा, वाणी झूठी,
सब स्वार्थ-कहानी झूठी,

सत्य हरिश्चन्द्र

बस छोड़ मोह की मूठी
तू सत्य का साज सजा लेरे!

यह क्लेश द्वेष का झगड़ा,
क्या मार्ग कलंकित पकड़ा,
कर दूर पाप का पचड़ा,
तू गीत प्रेम के गा लेरे!

कर दीन दुखी की सेवा,
सेवा से मिलती मेवा,
हो पार भँवर से खेवा,
तू जग में नाम कमा लेरे!

जीवन में बदबू छाई,
फैली सब ओर बुराई,
करले कुछ नेक कमाई;
तू अपना मन महका लेरे!

निज-धर्म की रक्षा करना,
जग-संकट से क्या डरना,
तप-तप कर खूब निखरना,
तू 'अमर' सत्य-गुण गा लेरे!

प्रशस्ति

स्थानक-वासी जैन-संघ में
'पूज्य मनोहर' बड़ भागी;
धीर, वीर, गंभीर, संयमी,
हुए प्रतिष्ठित जग-त्यागी।

कष्ट सहन कर किये अनेकों
ग्राम, नगर-जन प्रतिबोधित;
'गच्छ मनोहर' चला आपसे
संयम-पथ में अतिशोभित।

शास्त्राभ्यासी, उग्र तपस्वी,
पूज्य-श्री मुनि मोतीराम;
'गच्छाचार्य' दिवंगत जिनका
गौरव है अब भी अभिराम।

अन्तेवासी श्रेष्ठ आपके
'पृथ्विचन्द्र' जी मुनिवर हैं;
जैनाचार्य पदालंकृत हैं,
गच्छ मनोहर-दिनकर हैं।

चरण-रेणु है शिष्य 'अमर' मुनि
हरिश्चन्द्र यश गाया है;
सत्य-धर्म की महिमा का यह
उज्ज्वल चित्र बनाया है।

श्रद्धास्पद गणिवर्य, 'श्याम' मुनि
भद्र स्वभावी गुण धारी;
'प्रेमचन्द्र' जी शिष्य आपके
प्रेममूर्ति विमलाचारी!

हरिश्चन्द्र-गाथा के प्रति था,
उनका कुछ आग्रह गुरुतर;
कहूँ, आपके आग्रह का ही
यह मधु-फल है श्रेयस्कर!

पटियाला (पंजाब) राज्य है:
पुर महेन्द्रगढ़ सुखकारी;

सत्य हरिश्चन्द्र

राजा श्री ज्वालाप्रसाद जी,
जिन-मत की शोभा भारी !

तत्सुत राजा माणकचन्दजी,
महावीर जी प्रिय श्रावक;
धर्म-प्राण माता श्री 'अचला'
धर्म-भाव सद्गुण धारक !

कई लाख का द्रव्य दान कर
दृढ़ जैनत्व दिपाया है;
जिन शासन की सेवा का शुभ
प्रेम-भाव दरशाया है !

चातुर्मास शांति-सुखदायक
मधुर भाव उन्मेष लिए;
बना स्मरण-आधार वहाँ का
यह लघु काव्य प्रवेश लिए !

विक्रमार्क दो सहस्र एक का
श्रावण मास सरस-सुन्दर;
हरिश्चन्द्र की जीवन-गाथा
पूर्ण हुई जग-मंगल कर !

———